पत्रिका नं० १

जैन दार्शनिक साहित्य के विकास
की
रूपरेखा

दलसुख मालवणिया

जैन संस्कृति संशोधन मण्डल

दूसरी बार जनवरी १९५२ चार आना

जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा।

जैन दर्शन के साहित्यिक विकास को चार युगों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) आगमयुग—भगवान महावीर के निर्वाण से लेकर करीब एक हजार वर्ष का अर्थात् वि० पाचवीं शताब्दी तक का

(२) अनेकान्तव्यवस्थायुग—वि० पांचवीं शताब्दी से आठवीं तक का,

(३) प्रमाणव्यवस्थायुग—वि० आठवीं से सत्रहवीं तक का और

(४) नवीन न्याय युग—विक्रम सत्रहवीं से आधुनिक समय पर्यन्त।

(१) आगमयुगः—

भगवान महावीर के उपदेशों का संग्रह, गणधरों ने अङ्गों की रचना प्राकृत भाषा में करके, जिनमें किया वे आगम कहलाये। उन्हीं के आधार से अन्य स्थविरों ने शिष्यों के हितार्थ और भी साहित्य विषयविभाग करके उसी शैली में ग्रथित किया, वह उपाङ्ग, प्रकीर्णक, छेद और मूल के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अलावा अनुयोगद्वार और नन्दी की रचना की गई। आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासक-दशा अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरणदशा, विपाक—ये ११ अङ्ग उपलब्ध हैं और बारहवां दृष्टिवाद विच्छिन्न है। औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, कल्पिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, और वृष्णिदशा—ये बारह उपाङ्ग हैं। आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन तथा पिण्डनिर्युक्ति ये चार मूलसूत्र हैं। निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध, पञ्चकल्प और महानिशीथ ये छः छेद सूत्र हैं। चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, संस्तारक, तन्दुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, देवेन्द्रस्तव, गणिविद्या, महाप्रत्याख्यान और वीरस्तव ये दश प्रकीर्णक हैं।

आगमों का अन्तिम संस्करण वीरनिर्वाण के ९८० वर्ष बाद (मतान्तर से ९९३ वर्ष के बाद) वलभी में देवर्धि के समय में हुआ। कालक्रम से आगमों में परिवर्तन और परिवर्धन हुआ है किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि आगम

सर्वांशतः देवर्धिकी ही रचना है और उसका समय भी वही है जो देवर्धिका है। आगमों में आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध अवश्य ही पाटलीपुत्र के संस्करण का फल है। भगवती के कई प्रश्नोत्तर और प्रसङ्गों की संकलना भी उसी संस्करण के अनुकूल हो तो कोई आश्चर्य नहीं। पाटलीपुत्र का संस्करण भगवान् के निर्वाण के बाद करीब डेढ़सौ वर्ष बाद हुआ। विक्रम पाँचवीं शताब्दी में वलभी में जो संस्करण हुआ वही आज हमारे सामने है किन्तु उसमें जो संकलन हुआ वह प्राचीन वस्तुओं का ही हुआ है। सिर्फ नन्दीसूत्र तत्कालीन रचना है और कुछ ऐसी घटनाओं का जिक्र मिलाया गया है जो वीरनिर्वाण के बाद छः सौ से भी अधिक वर्ष बाद घटीं हों। ऐसे कुछ अपवादों को छोड़ दें तो अधिकांश ईसवी सन् के पूर्व का है इसमें सन्देह नहीं।

आगम में तत्कालीन सभी विद्याओं का समावेश हुआ है। दर्शन से सम्बद्ध आगम ये हैं:—सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, भगवती (व्याख्या-प्रज्ञप्ति), प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, नन्दी और अनुयोग।

सूत्रकृताङ्ग में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में मतान्तरों का निषेध किया है। किसी ईश्वर या ब्रह्मादि ने इस विश्व को नहीं बनाया, इस बात का स्पष्टीकरण किया गया है। आत्मा शरीर से भिन्न है और वह एक स्वतंत्र द्रव्य है इस बात को भार पूर्वक प्रतिपादित करके भूतवादिओं का खण्डन किया गया है। अद्वैतवाद का निषेध करके नानात्मवाद का प्रतिपादन किया है। क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद का निराकरण करके शुद्ध क्रियावाद की स्थापना की गई है। स्थानाङ्ग तथा समवायाङ्ग में ज्ञान, प्रमाण, नय, निक्षेप इन विषयों का संक्षेप में संग्रह यत्रतत्र हुआ है। किन्तु नन्दीसूत्र में तो जैन दृष्टि से ज्ञान का विस्तृत निरूपण हुआ है। अनुयोग-द्वारसूत्र में शब्दार्थ करने की प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन है तथा प्रमाण, निक्षेप और नय का निरूपण भी प्रसङ्ग से उसमें हुआ है। प्रज्ञापना में आत्मा के भेद, उनके ज्ञान, ज्ञान के साधन, ज्ञान के विषय और उनकी नाना अवस्थाओं का विस्तृत निरूपण है। जीवाभिगम में भी जीव के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातों का संग्रह है। राजप्रश्नीय में प्रदेशी नामक नास्तिक राजा के प्रश्न करने पर पार्श्व सन्तानीय श्रमण केशी ने जीव का अस्तित्व सिद्ध किया है। भगवती में ज्ञान-विज्ञान की अनेक बातों का संग्रह हुआ है और अनेक अन्य तीर्थिक मतों का निरास किया गया है।

आगमयुग में इन दार्शनिक विषयों का निरूपण राजप्रश्नीय को छोड़ दें तो युक्तिप्रयुक्ति पूर्वक नहीं किया गया है ऐसा स्पष्ट है। प्रत्येक विषय का निरूपण जैसे कोई द्रष्टा देखी हुई बात बता रहा हो इस ढङ्ग से हुआ है। किसी व्यक्ति ने शङ्का की हो और उसकी शङ्का का समाधान युक्तियों से हुआ हो यह प्रायः नहीं देखा जाता। वस्तु का निरूपण उसके लक्षण द्वारा नहीं किन्तु भेद-प्रभेद के प्रदर्शन पूर्वक किया गया है। आज्ञाप्रधान या श्रद्धा-प्रधान उपदेशशैली यह आगमयुग की विशेषता है।

उक्त आगमों को दिगम्बर आम्नाय नहीं मानता। बारहवें अङ्ग के अंशभूत पूर्व के आधार से आचार्यों द्वारा ग्रथित षट्खण्डागम, कषायपाहुड और महाबन्ध ये दिगम्बरों के आगम हैं। इनका विषय जीव और कर्म तथा कर्म के कारण जीव की जो नाना अवस्थाएँ होती हैं यही मुख्य रूप से है।

उक्त आगमों में से कुछ के ऊपर भद्रबाहु ने निर्युक्तियाँ वि० पाँचवीं शताब्दी में की हैं। निर्युक्ति के ऊपर वि० सातवीं शताब्दी में भाष्य बने। ये दोनों पद्य में प्राकृत भाषा में ग्रथित हैं। इन निर्युक्तियों और उनके भाष्य के आधार से प्राकृत गद्य में चूर्णि नामक टीकाओं की रचना वि० आठवीं शताब्दी में हुई। सर्व प्रथम संस्कृत टीका के रचयिता जिनभद्र हैं। उनके बाद कोट्टाचार्य, कोट्याचार्य और फिर हरिभद्र हैं। हरिभद्र का समय वि० ७५७-८२७ मुनि श्री जिन विजयजी ने निश्चित किया है।

निर्युक्ति से लेकर संस्कृत टीकाओं पर्यन्त उत्तरोत्तर तर्क प्रधान शैली का मुख्यतः आश्रय लेकर आगमिक बातों का निरूपण किया गया है। हरिभद्र के बाद शीलाङ्क, अभयदेव और मलयगिरि आदि हुए। इन्होंने टीकाओं में तत्कालीन दार्शनिक मन्तव्यों का पर्याप्त मात्रा में ऊहापोह किया है।

दिगम्बर आम्नाय के आगमों के ऊपर भी चूर्णियाँ लिखी गई हैं। वि० दसवीं शताब्दि में वीरसेनाचार्य ने बृहत्काय टीकायें लिखी हैं। ये टीकाएँ भी दार्शनिक चर्चा से परिपूर्ण हैं।

आगमों में सब विषयों का वणन विप्रकीर्ण था या अतिविस्तृत था। अतएव सर्व विषयों का सिलसिले से सार संग्राहक संक्षिप्त सूत्रात्मक शैली से वर्णन करने वाला तत्त्वार्थ सूत्र नामक ग्रन्थ वाचक उमास्वाति ने बनाया। जैन धर्म और दर्शन की मान्यताओं का इस ग्रन्थ में इतने अच्छे ढंग से वर्णन हुआ है कि जब से वह वि० चौथी या पांचवीं शताब्दी में बना तब से जैन विद्वानों का ध्यान विशेषतः इसकी ओर गया है। आचार्य उमास्वाति ने स्वयं भाष्य लिखा ही

था। किन्तु वह पर्याप्त न था क्योंकि समय की गति के साथ साथ दार्शनिक चर्चाओं में गम्भीरता और विस्तार बढ़ता जाता था जिसका समावेश करना अनिवार्य समझा गया। परिणाम यह हुआ कि पूज्यपाद ने छठी शताब्दी में एक स्वतंत्र टीका लिखी जिसमें उन्होंने जैन परिभाषिक शब्दों के लक्षण निश्चित किये और यत्र तत्र दिग्नागादि बौद्ध और अन्य विद्वानों का अल्प मात्रा में खण्डन भी किया। विक्रम सातवीं आठवीं शताब्दी में अकलंक, सिद्धसेन और उनके बाद हरिभद्र ने अपने समय तक होने वाली चर्चाओं का समावेश उसमें कर दिया। किन्तु तत्त्वार्थ की सर्व श्रेष्ठ दार्शनिक टीका श्लोकवार्तिक नामक है जिसके रचयिता विद्यानन्द हैं।

आगमों की तथा तत्त्वार्थ की टीकायें यद्यपि आगम युग की नहीं हैं किन्तु उनका सीधा सम्बन्ध मूल के साथ होने से यहीं उनका संक्षिप्त परिचय करा दिया है।

(२) अनेकान्तव्यवस्था युगः—

नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु और दिग्नाग ने भारतीय दार्शनिक परम्परा को एक नई गति प्रदान की है। नागार्जुन ने तत्कालीन बौद्ध और बौद्धेतर सभी दार्शनिकों के सामने अपने शून्यवाद को उपस्थित करके वस्तु को सापेक्ष सिद्ध किया। उनका कहना था कि वस्तु न भावरूप है, न अभाव रूप और न उभय या अनुभयरूप। वस्तु को किसी भी विशेषण देकर उसका रूप बताया नहीं जा सकता, वस्तु अवाच्य है यही नागार्जुन का मन्तव्य था। असङ्ग और वसुबन्धु ये दोनों भाईयों ने वस्तु मात्र को विज्ञानरूप सिद्ध किया और बाह्य जड़ पदार्थों का अपलाप किया। वसुबन्धु के शिष्य दिग्नाग ने भी उनका समर्थन किया और समर्थन करने के लिए बौद्ध दृष्टि से नवीन प्रमाण-शास्त्र की भी नींव रखी। इसी कारण से वह बौद्ध न्यायशास्त्र का पिता कहा जाता है। उसने युक्ति पूर्वक सभी वस्तुओं की क्षणिकता के बौद्ध सिद्धान्त का भी समर्थन किया।

बौद्ध विद्वानों के विरुद्ध में भारतीय सभी दार्शनिकों ने अपने अपने पक्ष की सिद्धि करने के लिए पूरा बल लगाया। नैयायिक वात्स्यायन ने नागार्जुन और अन्य बौद्ध दार्शनिकों का खण्डन करके आत्मादि प्रमेयों की भावरूपता और उन सभी का पार्थक्य सिद्ध किया। मीमांसक शबर ने विज्ञानवाद और शून्यवाद का निरास करके वेदापौरुषेयता स्थिर की। वात्स्यायन और शबर

दोनों ने बौद्धों के 'सर्वं क्षणिकं' सिद्धान्त की आलोचना करके आत्मादि पदार्थों की नित्यता की रक्षा की। सांख्यों ने भी अपने पक्ष की रक्षा के लिए प्रयत्न किया। इन सभी को अकेले दिग्नाग ने उत्तर देकर के फिर विज्ञानवाद का समर्थन किया। तथा बौद्ध संमत सर्व वस्तुओं की क्षणिकता का सिद्धान्त स्थिर किया।

ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक चलने वाले दार्शनिकों के इस संघर्ष का लाभ जैन दार्शनिकों ने अपने अनेकान्तवाद की व्यवस्था करके लिया।

भगवान महावीर के उपदेशों में नयवाद अर्थात् वस्तु की नाना दृष्टिबिन्दुओं से विचारणा को स्थान था। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार अपेक्षाओं के आधार से किसी भी वस्तु का विधान या निषेध किया जाता है, यह भी भगवान की शिक्षा थी। तथा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेप को लेकर किसी भी पदार्थ का विचार करना भी भगवान ने सिखाया था। इन भगवदुपदिष्ट तत्त्वों के प्रकाश में जब सिद्धसेन ने उपर्युक्त दार्शनिकों के वादविवादों को देखा तब उन्होंने अनेकान्त व्यवस्था के लिये उपयुक्त अवसर समझ लिया और अपने सन्मतितर्क नामक ग्रंथ में तथा भगवान् की स्तुति प्रधान बत्तीसिओं में अनेकान्तवाद का प्रबल समर्थन किया। यह कार्य उन्होंने वि० पाँचवीं शताब्दी में किया।

सिद्धसेन की विशेषता यह है कि उन्होंने तत्कालीन नानावादों को नयवादों में सन्निविष्ट कर दिया। अद्वैतवादिओं की दृष्टि को उन्होंने जैन-सम्मत संग्रह नय कहा। क्षणिकवादी बौद्धों का समावेश ऋजुसूत्रनय में किया। सांख्य-दृष्टि का सामवेश द्रव्यार्थिकनय में किया। तथा कणाद के दर्शन का समावेश द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक में कर दिया। उनका तो कहना है कि संसार में जितने दर्शनभेद हो सकते हैं जितने भी वचनभेद हो सकते हैं, उतने ही नयवाद हैं और उन सभी के समागम से ही अनेकान्तवाद फलित होता है। ये नयवाद, ये परदर्शन तभी तक मिथ्या हैं जब तक वे परस्पर को मिथ्या सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, एक दूसरे के दृष्टिबिन्दु को समझने का प्रयत्न नहीं करते। अतएव मिथ्याभिनिवेश के कारण दार्शनिकों को अपने मत की क्षतियों का तथा दूसरों के मत की खूबियों का पता नहीं लगता। एक तटस्थ व्यक्ति ही आपस में लड़ने वाले इन वादियों के गुण-दोषों को जान सकता है। स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का अवलम्बन लिया जाय तो कहना होगा कि अद्वैतवाद भी एक दृष्टि से ठीक ही है। जब मनुष्य अभेद की ओर दृष्टि करता है और

भेद की ओर उपेक्षाशील हो जाता है तब उसे अभेद ही अभेद नजर आता है। जैन दृष्टि से उनका यह दर्शन द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से हुआ है, ऐसा कहा जायगा। किन्तु दूसरा व्यक्ति अभेदगामी दृष्टि से काम न लेकर यदि भेदगामी दृष्टि यानी पर्यायार्थिकनय के बल से प्रवृत्त होता है तो उसे सर्वत्र भेद ही भेद दिखाई देगा। वस्तुतः पदार्थ में भेद भी है और अभेद भी है। सांख्यों ने अभेद ही को मुख्य माना और बौद्धों ने भेद ही को मुख्य माना और वे दोनों परस्पर का खण्डन करने में प्रवृत्त हुए अतएव वे दोनों मिथ्या हैं। किन्तु स्याद्वादी की दृष्टि में भेद दर्शन भी ठीक है और अभेद दर्शन भी। दो मिथ्या अन्त मिलकर ही स्याद्वाद होता है, फिर भी वह सम्यग् है। उसका कारण यह है कि स्याद्वाद में उन दोनों विरुद्ध मतों का समन्वय है, दोनों विरुद्धमतों का विरोध लुप्त हो गया है। इसी प्रकार नित्य-अनित्यवाद, हेतुवाद-अहेतुवाद, भाव-अभाववाद, सत्कार्यवाद-असत्कार्यवाद इत्यादि नाना विरुद्धवादों का समन्वय सिद्धसेन ने किया।

सिद्धसेन के इस कार्य में समन्तभद्र ने भी अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। उन्होंने तत्कालीन विरोधी एकान्तवादों में दोष बताकर स्याद्वाद मानने पर ही निर्दोषता हो सकती है; इस बात को स्पष्ट किया है। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने विरोधी वादों के युगल को लेकर सप्तभंगियों की योजना कैसे करना इसका स्पष्टीकरण, भाव-अभाव, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद हेतुवाद-अहेतुवाद, सामान्य-विशेष इत्यादि तत्कालीन नानावादों में सप्तभंगी की योजना बता करके, कर दिया है। वस्तुतः समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा अनेकान्त की व्यवस्था के लिए श्रेष्ठ ग्रंथ सिद्ध हुआ है। आप्त किसे माना जाय इस प्रश्न के उत्तर में ही उन्होंने यह सिद्ध किया है कि स्याद्वाद ही निर्दोष है अतएव उस वाद के उपदेशक ही आप्त हो सकते हैं। दूसरों के वादों में अनेक दोषों का दर्शन करा कर उन्होंने सिद्ध किया है कि दूसरे आप्त नहीं हो सकते क्योंकि उनका दर्शन बाधित है। समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन में दूसरों के दर्शन में दोष बताकर उन दोषों का अभाव जैन दर्शन में सिद्ध किया है तथा जैन दर्शन के गुणों का सद्भाव अन्य दर्शन में नहीं है इस बात को युक्ति पूर्वक सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है।

सन्मति के टीकाकार मल्लवादी ने नयचक्र नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना वि० पांचवी छठी शताब्दी में की है। अनेकान्त को सिद्ध करने वाला यह एक अद्भुत ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ने सभी वादों के एक चक्र की कल्पना

की है। जिसमें पूर्व-पूर्ववाद का उत्तर-उत्तरवाद खण्डन करता है। पूर्व-पूर्व की अपेक्षा से उत्तर-उत्तर वाद प्रबल मालूम होता है किन्तु चक्रगत होने से प्रत्येक वाद पूर्व में अवश्य पड़ता है। अतएव प्रत्येक वाद की प्रबलता या निर्बलता यह सापेक्ष है। कोई निर्बल ही हो या सबल ही हो ऐसा एकान्त नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार सभी दार्शनिक अपने गुण दोषों का यथार्थ प्रतिबिम्ब देख लेते हैं। ऐसी स्थिति में स्याद्वाद की स्थापना अनायास स्वतः सिद्ध हो जाती है।

सिंहगणि ने सातवीं के पूर्वार्ध में इसके ऊपर १८००० श्लोक प्रमाण टीका को लिखकर तत्कालीन सभी वादों की विस्तृत चर्चा की है।

इस प्रकार इस युग के मुख्य कार्य अनेकान्त की व्यवस्था करने म छोटे मोटे सभी जैनाचार्यों ने भरसक प्रयत्न किया है और उस वाद को ऐसी स्थिर भूमिका पर रख दिया है कि आगे के आचार्यों के लिए सिर्फ उस वाद के ऊपर होने वाले नये नये आक्षेपों का उत्तर देना ही शेष रह गया है।

(३) प्रमाणव्यवस्था युग :—

बौद्ध प्रमाणशास्त्र के पिता दिग्नाग का जिक्र आ चुका है। उन्होंने तत्कालीन न्याय, सांख्य और मीमांसा दर्शन के प्रमाण लक्षणों और भेद-प्रभेदों का खण्डन करके तथा वसुबन्धु की प्रमाण विषयक विचारणा का संशोधन करके स्वतन्त्र बौद्ध प्रमाण-शास्त्र की व्यवस्था की। प्रमाण के भेद, प्रत्येक के लक्षण प्रमेय और फल इत्यादि सभी प्रमाण सम्बद्ध बातों का विचार करके बौद्ध दृष्टि से स्पष्टता की ओर अन्य दार्शनिकों के तत्तत् मतों का निरास किया। परिणाम यह हुआ कि दिग्नाग के बिरोध में नैयायिक उद्योतकर, मीमांसक कुमारिल आदि विद्वानों ने अपनी कलम चलाई और उस नये प्रकाश में अपना दर्शन परिष्कृत किया। इन सभी को तत्कालीन दार्शनिक क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ वादी धर्मकीर्ति ने उत्तर देकर परास्त किया। धर्मकीर्ति के बाद ग्रथित ऐसा कोई भी दार्शनिक ग्रन्थ नहीं जिसमें धर्मकीर्ति का जिक्र न हो। प्रायः सभी पश्चाद्भावी दार्शनिकों ने उनके स्वमत बिरोधी तर्कों का उत्तर देने का प्रयत्न किया है और स्वानुकूल तर्कों को अपना लिया है।

तदन्तर धर्मकीर्ति की शिष्य परंपरा ने धर्मकीर्ति के पक्ष का समर्थन किया और अन्य दार्शनिकों ने उनके पक्ष का खण्डन किया। यह वाद-प्रतिवाद जब तक बौद्ध दार्शनिक भारत छोड़कर बाहर चले न गये बराबर होता रहा।

इस सुदीर्घकालीन संघर्ष में जैनों ने भी हिस्सा लिया है और अपना प्रमाण शास्त्र व्यवस्थित किया है।

न्यायावतार नामक एक छोटी सी उपलब्ध कृति सिद्धसेन ने बनाई थी यह परम्परा है। तथा पात्रस्वामी ने दिग्नाग के हेतुलक्षण के खण्डन में त्रिलक्षण-कदर्थन नामक ग्रन्थ बनाया था। और भी छोटे मोटे ग्रन्थ बने होंगे किन्तु वे सब कालकवलित हो गये हैं। जैन दृष्टि से प्रमाणशास्त्र की प्रतिष्ठा पूर्व परंपरा के आधार से यदि किसी आचार्य ने की है तो वह अकलंक ही है। अकलंक ने धर्मकीर्ति और उनके शिष्य धर्मोत्तर तथा प्रज्ञाकर का खण्डन करके जैन दृष्टि से प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रमाण की स्थापना की।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष को व्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान को परमार्थिक प्रत्यक्ष कहा। यह बात उन्होंने नई नहीं की किन्तु जैन परम्परा के आधार से ही कही है। उन्होंने इन प्रत्यक्षों का तर्कदृष्टि से समर्थन किया तथा प्रत्येक के लक्षण, विषय और फल का स्पष्टीकरण किया। परोक्ष के भेद रूप से उन्होंने स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क अनुमान और आगम को बताया। और प्रत्येक का प्रामाण्य समर्थित किया। स्मृति का प्रामाण्य किसी दार्शनिक ने माना नहीं था। अतएव सब दार्शनिकों की दलीलों का उत्तर देकर उसका प्रामाण्य अकलंक ने उपस्थित किया। प्रत्यभिज्ञान को अन्य दार्शनिक प्रत्यक्ष रूप मानते थे, या पृथक् स्वतंत्र ज्ञान ही न मानते थे तथा बौद्ध तो उसके प्रामाण्य को भी मानता न था—इन सभी का निराकरण करके उन्होंने उसका पृथक् प्रामाण्य स्थापित किया और उसी में उपमान का समावेश कर दिया। परोक्ष के इन पाँच भेदों की व्यवस्था अकलंक की ही सूझ है। और प्रायः सभी जैन दार्शनिकों ने अकलंकोपज्ञ इस व्यवस्था को माना है। प्रमाणव्यवस्था के इस युग में जैनाचार्यों ने पूर्व युग की सम्पत्ति अनेकान्तवाद की रक्षा और विस्तार किया। आचार्य हरिभद्र और अकलंक ने भी इस कार्य को वेग दिया। आचार्य हरिभद्र ने अनेकान्त के ऊपर होने वाले आक्षेपों का उत्तर अनेकान्तजयपताका लिख कर दिया। आचार्य अकलंक ने आप्त मीमांसा के ऊपर अष्टशती नामक टीका लिखकर बौद्ध और अन्य दार्शनिकों के आक्षेपों का तर्कसंगत उत्तर दिया और उसके बाद विद्यानन्द ने अष्टसहस्त्री नामक महती टीका लिखकर अनेकान्त को अजेय सिद्ध कर दिया।

हरिभद्र ने जैन दर्शन के पक्ष को प्रबल बनाने के लिए और भी कई ग्रंथ लिखे, जिनमें शास्त्रवार्तासमुच्चय मुख्य है।

अकलंक ने प्रमाणव्यवस्था के लिए लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, और प्रमाण-संग्रह लिखा और सिद्धिविनिश्चय नामक ग्रन्थ लिखकर उन्होंने जैन दार्शनिक मन्तव्यों को विद्वानों के सामने अकाट्य प्रमाण-पूर्वक सिद्ध किये।

आचार्य विद्यानन्द ने अपने समय तक विकसित दार्शनिक वादों को तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में स्थान दिया और उनका समन्वय करके अनेकान्तवाद की चर्चा को पल्लवित किया। तथा प्रमाणशास्त्र सम्बद्ध विषयों की चर्चा भी उसमें की। प्रमाणपरीक्षा नामक अपनी स्वतन्त्र कृति में दार्शनिकों के प्रमाणों की परीक्षा करके अकलंक निर्दिष्ट प्रमाणों का समर्थन किया। उन्होंने आप्त परीक्षा में आप्तों की परीक्षा करके तीर्थंकर को ही आप्त सिद्ध किया और अन्य बुद्धादि को अनाप्त बताया।

आचार्य माणिक्यनन्दी ने अकलंक के ग्रन्थों का सार लेकर परीक्षामुख नामक जैन न्याय का सूत्रात्मक ग्रन्थ लिखा।

ग्यारहवीं शताब्दी में अभयदेव और प्रभाचन्द्र ये दोनों महान् तार्किक टीकाकार हुए। एक ने सिद्धसेन के सन्मति की टीका के बहाने समूचे दार्शनिक वादों का संग्रह किया। और दूसरे ने परीक्षामुख की टीका प्रमेयकमलमार्तण्ड और लघीयस्त्रय की टीका न्यायकुमुदचन्द्र में जैन प्रमाणशास्त्र सम्बद्ध यावत् विषयों की व्यवस्थित चर्चा की। इन्हीं दो महान् टीकाकारों के बाद बारहवीं शताब्दी में वादी देव देवसूरि ने प्रमाण और नय की विस्तृत चर्चा करने वाला स्याद्वादरत्नाकर लिखा। यह ग्रन्थ स्वोपज्ञ प्रमाणनयतत्त्वालोक नामक सूत्रात्मक ग्रन्थ की विस्तृत टीका है। इसमें वादी देव ने प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों में जिन अन्य दार्शनिकों के पूर्वपक्षों का संग्रह नहीं हुआ था उनका भी संग्रह करके सभी का निरास करने का प्रयत्न किया है।

वादी देव के समकालीन आचार्य हेमचन्द्र ने मध्यम परिमाण प्रमाणमीमांसा लिख कर आदर्श पाठ्य ग्रन्थ की क्षति की पूर्ति की है।

इसी प्रकार आगे भी छोटी मोटी दार्शनिक कृतियाँ लिखी गईं किन्तु उनमें कोई नई बात नहीं मिलती। पूर्वाचार्यों की कृतिओं के अनुवाद रूप ही ये कृतियाँ बनी हैं। इनमें न्यायदीपिका उल्लेख योग्य है।

(४) नव्यन्याय युग :—

भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में नव्यन्याय के युग का प्रारंभ गंगेश से होता है। गंगेश का जन्म वि० १२५७ में हुआ। उन्होंने नवीन न्यायशैली का

प्रवर्तन किया। तब से सभी दार्शनिकों ने उसके प्रकाश में अपने अपने दर्शन का परिष्कार किया। किन्तु जैन दर्शनिकों में से किसी का, जब तक यशोविजय नहीं हुए, इस ओर ध्यान नहीं गया था, फल यह हुआ कि १३ वीं शताब्दी से १७ वीं शताब्दी के अंत तक भारतीय दर्शनों की विचार धारा का जो नया विकास हुआ उससे जैन दार्शनिक साहित्य वंचित ही रहा। १८ वीं शताब्दी के प्रारंभ में वाचक यशोविजय ने काशी की ओर प्रयाण किया और सर्वशास्त्र वैशारद्य प्राप्त कर उन्होंने जैन दर्शन में भी नवीन न्याय की शैली से कई ग्रंथ लिखे और अनेकान्तवाद के ऊपर दिए गये आक्षेपों का समाधान करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अनेकान्तव्यवस्था लिखकर अनेकान्तवाद की पुनः प्रतिष्ठा की। और अष्टसहस्री तथा शास्त्रवार्तासमुच्चय नामक प्राचीन ग्रन्थों के ऊपर नवीन शैली की टीका लिखकर उन दोनों ग्रन्थों को आधुनिक बनाकर उनका उद्धार किया। जैनतर्कभाषा और ज्ञानबिंदु लिखकर जैन प्रमाणशास्त्र को परिष्कृत किया। उन्होंने नयवाद के विषय में नयप्रदीप, नयरहस्य, नयोपदेश आदि कई ग्रन्थ लिखे हैं।

वाचक यशोविजय ने ज्ञानविज्ञान की प्रत्येक शाखा में कुछ न कुछ लिख कर जैन साहित्य भण्डार समृद्ध किया है।

इस नव्यन्याय युग की सप्तभंगीतरंगिणी भी उल्लेख योग्य है।

पत्रिका नं० ३०

जैन साहित्य की प्रगति

१९४९—५१

पण्डित श्री सुखलालजी संघवी

जैन संस्कृति संशोधन मण्डल,
P. O. बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

नवम्बर १९५१

आठ आना

निवेदन

अक्तूबर ३, ४, ५, सन् १९५१ में लखनऊ में होने वाले ओरिएन्टल कोन्फरेन्स के सोलहवें अधिवेशन के 'प्राकृत और जैनधर्म' विभाग के अध्यक्ष पद से पंडित श्री सुखलालजी ने जो व्याख्यान दिया था उसे इस पत्रिका में दिया जा रहा है। इस व्याख्यान में पंडितजी ने अनेकान्तवाद और सप्तभंगी के विषय में अपने मौलिक विचार प्रकट करने के साथ ही गत दो-ढाई वर्षों में जो जैनधर्म और प्राकृत भाषा से सम्बद्ध साहित्य प्रकाशित हुआ है उसमें से महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की समालोचना करके जैन संशोधन के क्षेत्र में जो प्रगति हुई है उसकी विवेचना भी की है। तदुपरांत मुनि श्री पुण्य विजय जी के जेसलमेर भांडार के उद्धार कार्य का और आगम और आगमेतर साहित्य के संशोधन का सुसंकलितरूप से निर्देश कर दिया है। इससे संशोधक विद्वानों को संशोधन कार्य की दिशा का पता चलेगा, इतना ही नहीं किन्तु अब उक्त भांडार गत अपनी अभीष्ट पुस्तक प्राप्त करने की भी जो सरलता हुई है उसका पता चलेगा। ऐसे व्याख्यानों का तात्कालिक उपयोग अधिक होता है अतएव हमने 'श्रमण' के सहकार से इस व्याख्यान को शीघ्र ही संशोधक विद्वानों के सामने अविकल रूप से उपस्थित कर देना उचित समझा है। 'श्रमण' के सहकार के लिए मैं 'श्रमण' के व्यवस्थापक और संपादकों का आभार मानता हूँ। तथा श्री पंडित जी ने जो अपने व्याख्यान की अग्रिम नकल दी एतदर्थ उनका भी आभार मानता हूँ।

४-११-५१

दलसुख मालवणिया
मंत्री
जैन संस्कृति संशोधन मंडल

ओरिएण्टल कान्फरेंस लखनऊ के सोलहवें अधिवेशन पर प्राकृत तथा जैन तत्त्वज्ञान विभाग

के अध्यक्ष

पण्डित श्री सुखलालजी संघवी

का

अभिभाषण

समानशील मित्रगण !

मैं आभारविधि व लाचारी प्रदर्शन के उपचार से प्रारंभ में ही छुट्टी पा लेता हूँ। इससे हम सभी का समय बच जायगा।

आप को यह जान कर दुःख होगा कि इसी लखनऊ शहर के श्री अजित प्रसाद जी जैन अब हमारे बीच नहीं रहे। उन्होंने गोम्मटसार जैसे कठिन ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। और वे जैन गजट के अनेक वर्षों तक संपादक रहे। उनका अदम्य उत्साह हम सब में हो ऐसी भावना के साथ उनकी आत्मा को शान्ति मिले यही प्रार्थना है। सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् श्री सागरानंद सूरि का इसी वर्ष स्वर्गवास हो गया है। उन्हों ने अपनी सारी जिंदगी अनेकविध पुस्तक प्रकाशन में लगाई। उन्हीं की एकाग्रता तथा कार्य परायणता से आज विद्वानों को जैन साहित्य का बहुत बड़ा भाग सुलभ है। वे अपनी धुन में इतने पक्के थे कि आरंभ किया काम अकेले हाथ से पूरा करने में भी कभी नहीं हिचके। उनकी चिर-साहित्योपासना हमारे बीच विद्यमान है। हम सभी साहित्य-संशोधन प्रेमी उनके कार्य का मूल्यांकन कर सकते हैं। हम उनकी समाहित आत्मा के प्रति अपना हार्दिक आदर प्रकट करें।

जैन विभाग से संबद्ध विषयों पर सन् १९४१ से अभी तक चार प्रमुखों के भाषण हुए हैं। डॉ० ए. एन्. उपाध्ये का भाषण जितना विस्तृत है उतना ही अनेक मुद्दों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालने वाला है। उन्हों ने प्राकृत भाषा का सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से तथा शुद्ध भाषातत्त्व के अभ्यास की दृष्टि से क्या स्थान है इसकी गंभीर व विस्तृत चर्चा की है। मैं इस विषय में अधिक

न कह कर केवल इससे संवद्ध एक मुद्दे पर चर्चा करूँगा। वह है भाषा की पवित्रापवित्रता की मिथ्या भावना।

शास्त्रीय भाषाओं के अभ्यास के विषय में—

मैं शुरू में पुरानी प्रथा के अनुसार काशी में तथा अन्यत्र जब उच्च कक्षा के साहित्यिक व आलंकारिक विद्वानों के पास पढ़ता था तब अलंकार नाटक आदि में आने वाले प्राकृत गद्य-पद्य का उनके मुंह से वाचन सुन कर विस्मित सा हो जाता था, यह सोच कर कि इतने बड़े संस्कृत के दिग्गज पंडित प्राकृत को यथावत् पढ़ भी क्यों नहीं सकते? विशेष अचरज तो तब होता था जब वे प्राकृत गद्य-पद्य का संस्कृत छाया के सिवाय अर्थ ही नहीं कर सकते थे। ऐसा ही अनुभव मुझ को प्राकृत व पाली के पारदर्शी पर एकांगी श्रमणों के निकट भी हुआ है, जब कि उन्हें संस्कृत भाषा में लिखे हुए अपने परिचित विषय को ही पढ़ने का अवसर आता। धीरे धीरे उस अचरज का समाधान यह हुआ कि वे पुरानी एकांगी प्रथा से पढ़े हुए हैं। पर यह त्रुटि जब यूनिवर्सिटी के अध्यापकों में भी देखी तब मेरा अचरज द्विगुणित हो गया। हम भारतीय जिन पाश्चात्य विद्वानों का अनुकरण करते हैं उनमें यह त्रुटि नहीं देखी जाती। अतएव मैं इस वैषम्य के मूल कारण की खोज करने लगा तो उस कारण का कुछ पता चल गया जिसका सूचन करना भावी सुधार की दृष्टि से अनुपयुक्त नहीं।

जैन आगम भगवती में कहा गया है कि अर्धमागधी देवों की भाषा है।[१] बौद्ध पिटकमें भी बुद्ध के मुख से कहलाया गया है कि बुद्ध वचन को प्रत्येक देश के लोग अपनी अपनी भाषा में कहें[२], उसे संस्कृत बद्ध करके सीमित करने की आवश्यकता नहीं। इसी तरह पतंजलि ने महाभाष्य में संस्कृत शब्दानुशासन के प्रयोजनों को दिखाते हुए कहा है कि "न म्लेच्छितवै नापभाषितवै"[३] अर्थात् ब्राह्मण अपभ्रंश का प्रयोग न करे। इन सभी कथनों से आपाततः ऐसा जान पड़ता है कि मानों जैन व बौद्ध प्राकृतभाषा को देववाणी मान कर संस्कृत का तिरस्कार करते हैं या महाभाष्यकार संस्कृतेतर भाषा को अपभाषा कह कर तिरस्कृत करते हैं। पर जब आगे पीछे के संदर्भ

---

१. भगवती श० ५, उ० ४। प्रज्ञापना-प्रथम पद में मागधी को आर्य भाषा कहा है। २. चुल्लवग्ग-खुद्दक-वत्थुखन्ध-बुद्धवचननिरुत्ति।
३. महाभाष्य पृ० ४९।

व विवरण तथा तत्कालीन प्रथा के आधार पर उन कथनों की गहरी जाँच की तो स्पष्ट प्रतीत हुआ कि उस जमाने में भाषाद्वेष का प्रश्न नहीं था किन्तु अपने शास्त्र की भाषा की संस्कार शुद्धि की रक्षा करना, इसी उद्देश्य से शास्त्रकार चर्चा करते थे। इस सत्य की प्रतीति तब होती है जब हम भर्तृहरि को 'वाक्यपदीय' में साधु-असाधु शब्दों के प्रयोग की चर्चा-प्रसंग में अपभ्रंश व असाधु कहे जाने वाले शब्दों को भी अपने वर्तुल में साधु बतलाते हुए पाते हैं।[१] इसी प्रकार जब आचार्य आर्यरक्षित 'अनुयोगद्वार' में[२] संस्कृत-प्राकृत दोनों उक्तिओं को प्रशस्त बतलाते हैं, व वाचक उमास्वाति आर्यभाषा रूप से किसी एक भाषा का निर्देश न करके केवल इतना ही कहते हैं कि जो भाषा स्पष्ट और शुद्ध रूप से उच्चारित हो और लोक संव्यवहार साध सके वह आर्य भाषा,[३] तब हमें कोई संदेह नहीं रहता कि अपने अपने शास्त्र की मुख्य भाषा की शुद्धि की रक्षा की ओर ही तात्कालिक परम्परागत विद्वानों का लक्ष्य था।

पर उस सांप्रदायिक एकांगी आत्मरक्षा की दृष्टि में धीरे धीरे ऊँच नीच भाव के अभिमान का विष दाखिल हो रहा था। हम इसकी प्रतीति सातवीं शताब्दी के आसपास के ग्रन्थों में स्पष्ट पाते हैं।[४] फिर तो भोजन, विवाह, व्यवसाय आदि व्यवहार क्षेत्र में जैसे ऊँच-नीच भाव का विष फैला वैसे ही शास्त्रीय भाषाओं के वर्तुल में भी फैला। अलंकार, काव्य, नाटक आदि के अभ्यासी विद्यार्थी व पंडित उनमें आने वाले प्राकृत भागों को छोड़ तो सकते न थे, पर वे विधिवत् आदरपूर्वक अध्ययन करने के संस्कार से भी वंचित थे। इसका फल यह हुआ कि बड़े बड़े प्रकाण्ड गिने जाने वाले संस्कृत के दार्शनिक व साहित्यिक विद्वानों ने अपने विषय से संवद्ध प्राकृत व पाली साहित्य को छुआ तक नहीं। यही स्थिति पाली पिटक के एकांगी अभ्यासियों की भी रही। उन्होंने भी अपने अपने विषय से संवद्ध महत्त्वपूर्ण संस्कृत साहित्य की यहाँ तक उपेक्षा की कि अपनी ही परंपरा में बने हुए संस्कृत वाङ्मय से भी वे बिलकुल अनजान रहे।[५] इस विषय में जैन परंपरा की स्थिति उदार रही है, क्योंकि आ० आर्यरक्षित ने तो संस्कृत–प्राकृत दोनों का समान रूप

---

१. वाक्यपदीय प्रथम काण्ड, का० २४८-२५६। २. अनुयोगद्वार पृ० १३१। ३. तत्त्वार्थभाष्य ३. १५। ४. "असाधुशब्दभूयिष्ठाः शाक्य-जैनागमादयः" इत्यादि, तंत्रवार्तिक पृ० २३७

५. उदाहरणार्थ-सीलोन, बर्मा आदि के भिक्खु महायान के संस्कृत ग्रन्थों से अछूता हैं।

से मूल्य आँका है। परिणाम यह है कि वाचक उमास्वाति के समय से आज तक के लगभग १५०० वर्ष के जैन विद्वान संस्कृत और प्राकृत वाङ्मय का तुल्य आदर करते आए हैं। और सब विषय के साहित्य का निर्माण भी दोनों भाषाओं में करते आए हैं।

इस एकांगी अभ्यास का परिणाम तीन रूपों में हमारे सामने है। पहला तो यह कि एकांगी अभ्यासी अपने सांप्रदायिक मन्तव्य का कभी कभी यथावत् निरूपण ही नहीं कर पाता। दूसरा यह कि वह अन्य मत की समीक्षा अनेक वार गलत धारणाओं के आधार पर करता है। तीसरा रूप यह है कि एकांगी अभ्यास के कारण संबद्ध विषयों व ग्रन्थों के अज्ञान से ग्रन्थगत पाठ ही अनेक वार गलत हो जाते हैं। इसी तीसरे प्रकार की ओर प्रो० विधुशेखर शास्त्री ने ध्यान खींचते हुए कहा है कि "प्राकृत भाषाओं के अज्ञान तथा उनकी उपेक्षा के कारण 'वेणी संहार' में कितने ही पाठों की अव्यवस्था हुई है।"[१] पंडित बेचरदासजी ने 'गुजराती भाषानी उत्क्रान्ति' में पृ० १०० टि० ६२ में शिवराम म० प्रांजपे संपादित 'प्रतिमा नाटक' का उदाहरण देकर वही बात कही है। राजशेखर की 'कर्पूर मंजरी' के टीकाकार ने अशुद्ध पाठ को ठीक समझ कर ही उसकी टीका की है। डा० ए. एन. उपाध्येने भी अपने वक्तव्य में प्राकृत भाषाओं के यथावत् ज्ञान न होने के कारण संपादकों व टीकाकारों के द्वारा हुई अनेकविध भ्रान्तिओं का निदर्शन किया है।

विश्वविद्यालय के नए युग के साथ ही भारतीय विद्वानों में भी संशोधन की तथा व्यापक अध्ययन की महत्वाकांक्षा व रुचि जगी। वे भी अपने पुरोगामी पाश्चात्य गुरुओं की दृष्टि का अनुसरण करने की ओर झुके व अपने देश की प्राचीन प्रथा को एकांगिता के दोष से मुक्त करने का मनोरथ व प्रयत्न करने लगें। पर अधिकतर ऐसा देखा जाता है कि उनका मनोरथ व प्रयत्न अभी तक सिद्ध नहीं हुआ। कारण स्पष्ट है। कॉलेज व यूनिवर्सिटी की उपाधि लेकर नई दृष्टि से काम करने के निमित्त आए हुए विश्वविद्यालय के अधिकांश अध्यापकों में वही पुराना एकांगी संस्कार काम कर रहा है। अतएव ऐसे अध्यापक मुंह से तो असांप्रदायिक व व्यापक तुलनात्मक अध्ययन की बात करते हैं पर उनका हृदय उतना उदार नहीं है। इससे हम विश्वविद्यालय के वर्तुल में एक विसंवादी चित्र पाते हैं। फलतः विद्यार्थियों का नया जगत् भी समीचीन दृष्टि-लाभ न होने से दुविधा में ही अपने अभ्यास को एकांगी व विकृत बना रहा है।

---

१. 'पाली प्रकाश' प्रवेशक पृ० १८, टि० ४२।

हमने विश्वविद्यालय के द्वारा पाश्चात्य विद्वानों की तटस्थ समालोचना मूलक प्रतिष्ठा प्राप्त करनी चाही पर हम भारतीय अभी तक अधिकांश में उससे वंचित ही रहे हैं। वेबर, मेक्समूलर, गायगर, लोयमन, पिशल, जेकोबी, ओल्डनवर्ग, शार्पेन्टर, सिल्वन लेवी आदि गत युग के तथा डॉ० थॉमस, बेईल, बरो, शुब्रिग, आल्सडोर्फ, रेनु आदि वर्तमान युग के संशोधक विद्वान् आज भी संशोधनक्षेत्र में भारतीयों की अपेक्षा ऊँचा स्थान रखते हैं। इसका कारण क्या है इस पर हमें यथार्थ विचार करना चाहिए। पाश्चात्य विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम सत्यशोधक वैज्ञानिक दृष्टि के आधार पर रखा जाता है। इससे वहाँ के विद्वान् सर्वांगीण दृष्टि से भाषाओं तथा इतर विषयों का अध्ययन करते कराते हैं। वे हमारे देश की रूढ़प्रथा के अनुसार केवल सांप्रदायिक व संकुचित दायरे में बद्ध होकर न तो भाषाओं का एकांगी अध्ययन करते हैं और न इतर विषयों का ही। अतएव वे कार्यकाल में किसी एक ही क्षेत्र को क्यों न अपनावें पर उनकी दृष्टि व कार्यपद्धति सर्वांगीण होती है। वे अपने संशोधन क्षेत्र में सत्यलक्षी ही रह कर प्रयत्न करते हैं। हम भारतीय संस्कृति की अखण्डता व महत्ता की डींग हाँकें और हमारा अध्ययन–अध्यापन व संशोधन विषयक दृष्टिकोण खंडित व एकांगी हो तो सचमुच हम अपने आप ही अपनी संस्कृति को खंडित व विकृत कर रहे हैं।

एम० ए०, डॉक्टरेट जैसी उच्च उपाधि लेकर संस्कृत साहित्य पढ़ाने वाले अनेक अध्यापकों को आप देखेंगे कि वे पुराने एकांगी पंडितों की तरह ही प्राकृत का न तो सीधा अर्थ कर सकते हैं, न उसकी शुद्धि-अशुद्धि पहचानते हैं, और न छाया के सिवाय प्राकृत का अर्थ भी समझ सकते हैं। यही दशा प्राकृत के उच्च उपाधिधारकों की है। वे पाठ्यक्रम में नियत प्राकृतसाहित्य को पढ़ाते हैं तब अधिकांश में अंग्रेजी भाषान्तर का आश्रय लेते हैं, या अपेक्षित व पूरक संस्कृत ज्ञान के अभाव के कारण किसी तरह कक्षा की गाड़ी खींचते हैं। इससे भी अधिक दुर्दशा तो 'एन्श्यन्ट इन्डियन हिस्ट्री एन्ड् कल्चर' के क्षेत्र में कार्य करने वालों की है। इस क्षेत्र में काम करने वाले अधिकांश अध्यापक भी प्राकृत-शिलालेख, सिक्के आदि पुरातत्त्वीय सामग्री का उपयोग अंग्रेजी भाषान्तर द्वारा ही करते हैं। वे सीधे तौर से प्राकृत भाषाओं के न तो मर्म को पकड़ते हैं और न उन्हें यथावत् पढ़ ही पाते हैं। इसी तरह वे संस्कृत भाषा के आवश्यक बोध से भी वंचित होने के कारण अंग्रेजी भाषान्तर पर ही निर्भर रहते हैं। यह कितने दुःख व लज्जा की बात है कि पाश्चात्य

संशोधक विद्वान अपने इस विषय के संशोधन व प्रकाशन के लिए अपेक्षित सभी भाषाओं का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करने की पूरी चेष्टा करते हैं तब हम भारतीय घर की निजी सुलभ सामग्री का भी पूरा उपयोग नहीं कर पाते।

इस स्थिति में तत्काल परिवर्तन करने की दृष्टि से अखिल भारतीय प्राच्य विद्वत्परिषद् को विचार करना चाहिए। मेरी राय में उसका कर्तव्य इस विषय में विशेष महत्त्व का है। वह सभी भारतीय विश्वविद्यालयों को एक प्रस्ताव के द्वारा अपना सुझाव पेश कर सकती है जो इस मतलब का हो—

"कोई भी संस्कृत भाषा का अध्यापक ऐसा नियुक्त न किया जाय जिसने प्राकृत भाषाओं का कम से कम भाषादृष्टि से अध्ययन न किया हो। इसी तरह कोई भी प्राकृत व पाली भाषा का अध्यापक ऐसा नियुक्त न हो जिसने संस्कृत भाषा का अपेक्षित प्रामाणिक अध्ययन न किया हो।"

इसी तरह प्रस्ताव में पाठ्यक्रम संबन्धी भी सूचना हो वह इस मतलब की कि—

"कॉलेज के स्नातक तक के भाषा विषयक अभ्यास क्रम में संस्कृत व प्राकृत दोनों का साथ साथ तुल्य स्थान रहे, जिससे एक भाषा का ज्ञान दूसरी भाषा के ज्ञान के बिना अधूरा न रहे। स्नातक के विशिष्ट(आनर्स)अभ्यास क्रम में तो संस्कृत, प्राकृत व पाली भाषाओं के सह अध्ययन की पूरी व्यवस्था करनी चाहिए। जिससे विद्यार्थी आगे के किसी कार्यक्षेत्र में परावलम्बी न बने।"

उक्त तीनों भाषाओं एवं उनके साहित्य का तुलनात्मक व कार्यक्षम अध्ययन होने से स्वयं अध्येता व अध्यापक दोनों का लाभ है। भारतीय संस्कृति का यथार्थ निरूपण भी संभव है और आधुनिक संस्कृत-प्राकृत मूलक सभी भाषाओं के विकास की दृष्टि से भी वैसा अध्ययन बहुत उपकारक है।

उल्लेख योग्य दो प्रवृत्तियाँ—

डॉ०उपाध्ये ने आगमिक साहित्य के संशोधित संपादन की ओर अधिकारियों का ध्यान खींचते हुए कहा है कि—

"It is high time now for the Jaina Community and the orientalists to collaborate in order to bring forth a standard edition of the entire Ardhamāgadhi canon with the available Nijjuttis and Cūrṇis on an uniform plan. It would be a solid foundation for all further studies. Pischel did think of a Jaina Text Society at the beginning of this century; in 1914, on the

eve of his departure from India, Jacobi announced that an edition of the Siddhānta, the text of which can lay a claim to finality, would only be possible by using the old palm-leaf Mss. from the Patan Bhandāras, and only four years back Dr. Schubring also stressed this very point."

नि:संदेह आगमिक साहित्य के प्रकाशन के वास्ते भिन्न भिन्न स्थानों में अनेक वर्षों से आज तक अनेक प्रयत्न हुए हैं। वे प्रयत्न कई दृष्टि से उपयोगी भी सिद्ध हुए हैं तो भी प्रो० जाकोबी और डॉ० शुब्रिंग ने जैसा कहा है वैसे ही संशोधित संपादन की दृष्टि से एक अखण्ड प्रयत्न की आवश्यकता आज तक बनी हुई है। डॉ० पिशल ने इस शताब्दी के प्रारंभ में ही सोचा था कि 'पाली टेक्स्ट सोसायटी' जैसी एक 'जैन टेक्स्ट सोसायटी' की आवश्यकता है। हम सभी प्राच्यविद्या के अभ्यासी और संशोधन में रस लेने वाले भी अनेक वर्षों से ऐसे ही आगमिक साहित्य तथा इतर जैन साहित्य के संशोधित संस्करण के निमित्त होने वाले सुसंवादी प्रयत्न का मनोरथ कर रहे थे। हर्ष की बात है कि पिशल आदि की सूचना और हम लोगों का मनोरथ अब सिद्ध होने जा रहा है। इस दिशा में भगीरथ प्रयत्न करने वाले वे ही मुनि श्री पुण्यविजय जी हैं जिनके विषय में डॉ० उपाध्ये ने दश वर्ष पहिले कहा था—

"He (late Muni Shri Chaturavijayaji) has left behind a worthy and well trained pupil in Shri Punyavijayaji who is silently carrying out the great traditions of learning of his worthy teacher."

मैं मुनि श्री पुण्यविजय जी के निकट परिचय में ३६ वर्ष से सतत रहता आया हूँ। उन्होंने लीम्बड़ी, पाटन, वड़ौदा आदि अनेक स्थानों के अनेक भंडारों को सुव्यवस्थित किया है और सुरक्षित बनाया है। अनेक विद्वानों के लिए संपादन-संशोधन में उपयोगी हस्तलिखित प्रतियों को सुलभ बनाया है। उन्होंने स्वयं अनेक महत्त्व के संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों का संपादन भी किया है। इतने लम्बे और पक्व अनुभव के बाद ई० स० १९४५ में "जैन आगम संसद" की स्थापना करके वे अब जैनागमों के संशोधन में उपयोगी देश-विदेश में प्राप्य समग्र सामग्री को जुटाने में लग गए हैं। मैं आशा करता हूँ कि उनके इस कार्य से जैनागमों की अन्तिम रूप में प्रामाणिक आवृत्ति हमें प्राप्त होगी। आगमों के संशोधन की दृष्टि से ही वे अब अपना विहारक्रम और कार्यक्रम बनाते हैं। इसी दृष्टि से वे पिछले वर्षों में वड़ौदा, खंभात, अहमदाबाद

आदि स्थानों में रहे और वहाँ के भंडारों को यथासंभव सुव्यवस्थित करने साथ ही आगमों के संशोधन में उपयोगी बहुत कुछ सामग्री एकत्र की है पाटन, लीम्बड़ी, भावनगर आदि के भंडारों में जो कुछ है वह तो उनके पा संगृहीत था ही। उसमें बड़ौदा आदि के भंडारों से जो मिला उससे पर्याप्त मात्र में वृद्धि हुई है। इतने से भी वे संतुष्ट न हुए और स्वयं जैसलमेर के भंडार का निरीक्षण करने के लिए अपने दलबल के साथ ई० १९५० के प्रारंभ में पहुँच गए। जैसलमेर में जाकर शास्त्रोद्धार और भंडारों का उद्धार करने के लिए उन्होंने जो किया है उसका वर्णन यहाँ करना संभव नहीं। मैं ने अपने व्याख्यान के अंत में उसे परिशिष्ट रूप से जोड़ दिया है।

उस सामग्री का महत्त्व अनेक दृष्टि से है। 'विशेषावश्यक भाष्य', 'कुवलयमाला', 'ओघनिर्युक्ति वृत्ति' आदि अनेक ताड़पत्रीय और कागजी ग्रन्थ ९०० वर्ष तक के पुराने और शुद्धप्राय: हैं। इसमें जैन परंपरा के उपरान्त बौद्ध और ब्राह्मण परंपरा की भी अनेक महत्त्वपूर्ण पोथियाँ हैं। जिनका विषय काव्य, नाटक, अलंकार, दर्शन आदि है। जैसे—'खण्डन-खण्ड-खाद्य शिष्य हितैषिणी वृत्ति'—टिप्पण्यादि से युक्त, 'न्यायमंजरी-ग्रन्थिभंग', 'भाष्यवार्तिक-विवरण पंजिका', पंजिका सह 'तत्त्वसंग्रह' इत्यादि। कुछ ग्रन्थ तो ऐसे हैं जो अपूर्व हैं—जैसे 'न्यायटिप्पणक'–श्रीकंठीय, 'कल्पलताविवेक' (कल्पपल्लवशेष), बौद्धाचार्यकृत 'धर्मोत्तरीय टिप्पण' आदि।

सोलह मास जितने कम समय में मुनि श्री ने रात और दिन, गरमी और सरदी का जरा भी खयाल बिना किये जैसलमेर दुर्ग के दुर्गम स्थान के भंडारों के अनेकांगी जीर्णोद्धार के विशालतम कार्य के वास्ते जो उग्र तपस्या की है उसे दूर बैठे शायद ही कोई पूरे तौर से समझ सके। जैसलमेर के निवास दरमियान मुनि श्री के काम को देखने तथा अपनी अपनी अभिप्रेत साहित्यिक कृतिओं की प्राप्ति के निमित्त इस देश के अनेक विद्वान तो वहाँ गए ही पर विदेशी विद्वान् भी वहाँ गए। हेम्बर्ग यूनिवर्सिटी के प्रसिद्ध प्राच्यविद्याविशारद डॉ० आल्सडोर्फ़ भी उनके कार्य से आकृष्ट होकर वहाँ गए और उन्होंने वहाँ की प्राच्य वस्तु व प्राच्य साहित्य के सैकड़ों फोटो भी लिए।

मुनि श्री के इस कार्य में उनके चिरकालीन अनेक साथिओं और कर्मचारिओं ने जिस प्रेम व निरीहता से सतत कार्य किया है और जैन संघ ने जिस उदारता से इस कार्य में यथेष्ट सहायता की है वह सराहनीय होने के साथ साथ मुनि श्री की साधुता, सहृदयता व शक्ति का द्योतक है।

मुनि श्री पुण्यविजय जी का अभी तक का काम न केवल जैन परंपरा से ही सम्बन्ध रखता है और न केवल भारतीय संस्कृति से ही संबंध रखता है, बल्कि मानव संस्कृति की दृष्टि से भी वह उपयोगी है। जब मैं यह सोचता हूँ कि उनका यह कार्य अनेक संशोधक विद्वानों के लिए अनेकमुखी सामग्री प्रस्तुत करता है और अनेक विद्वानों के श्रम को बचाता है तब उनके प्रति कृतज्ञता से हृदय भर आता है।

संशोधनरसिक विद्वानों के लिए स्फूर्तिदायक एक अन्य प्रवृत्ति का उल्लेख भी मैं यहाँ उचित समझता हूँ। आचार्य मल्लवादी ने विक्रम छठी शताब्दी में 'नयचक्र' ग्रन्थ लिखा है। उसके मूल की कोई प्रति लब्ध नहीं है। सिर्फ उसकी सिंहगणि-क्षमाश्रमण कृत टीका की प्रति उपलब्ध होती है। टीका की भी जितनी प्रतियाँ उपलब्ध हैं वे प्रायः अशुद्ध ही मिली हैं। इस प्रकार मूल और टीका दोनों का उद्धार अपेक्षित है। उक्त टीका में वैदिक, बौद्ध और जैन ग्रन्थों के अवतरण विपुल मात्रा में हैं। किन्तु उनमें से बहुत ग्रन्थ अप्राप्य हैं। सद्भाग्य से बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती और चीनी भाषान्तर उपलब्ध है। जब तक इन भाषान्तरों की सहायता न ली जाय तब तक यह ग्रन्थ शुद्ध हो ही नहीं सकता, यह उस ग्रन्थ के बड़ौदा गायकवाड़ सिरीज से प्रकाशित होने वाले और श्री लब्धिसूरि ग्रन्थ माला से प्रकाशित हुए संस्करणों के अवलोकन से स्पष्ट हो गया है। इस वस्तुस्थिति का विचार करके मुनि श्री जम्बूविजय जी ने इसी ग्रन्थ के उद्धार निमित्त तिब्बती भाषा सीखी है और उक्त ग्रन्थ में उपयुक्त बौद्ध ग्रन्थों के मूल अवतरण खोज निकालने का कार्य प्रारंभ किया है। मेरी राय में प्रामाणिक संशोधन की दृष्टि से मुनि श्री जम्बूविजय जी का कार्य विशेष मूल्य रखता है। आशा है वह ग्रन्थ थोड़े ही समय में अनेक नए ज्ञातव्य तथ्यों के साथ प्रकाश में आएगा।

उल्लेख योग्य प्रकाशन कार्य—

पिछले वर्षों में जो उपयोगी साहित्य प्रकाशित हुआ है किन्तु जिनका निर्देश इस विभागीय प्रमुख के द्वारा नहीं हुआ है, तथा जो पुस्तकें अभी प्रकाशित नहीं हुई हैं पर शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली हैं उन सबका नहीं परन्तु उनमें से चुनी हुई पुस्तकों का नाम निर्देश अन्त में मैंने परिशिष्ट में ही करना उचित समझा है। यहाँ तो मैं उनमें से कुछ ग्रन्थों के बारे में अपना विचार प्रकट करूँगा।

जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर द्वारा प्रकाशित दो ग्रन्थ खास महत्त्व के हैं। पहला है 'यशस्तिलक एण्ड इन्डियन् कल्चर्'। इसके लेखक हैं प्रोफेसर के० के० हाण्डीकी। श्री हाण्डीकी ने ऐसे संस्कृत ग्रन्थों का किस प्रकार अध्ययन किया जा सकता है उसका एक रास्ता बताया है। यशस्तिलक के आधार पर तत्कालीन भारतीय संस्कृति के सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि पहलुओं से संस्कृति का चित्र खींचा है। लेखक का यह कार्य बहुत समय तक बहुतों को नई प्रेरणा देने वाला है। दूसरा ग्रन्थ है 'तिलोयपण्णत्ति' द्वितीय भाग। इसके संपादक हैं ख्यातनामा प्रो० हीरालाल जैन और प्रो० ए. एन्. उपाध्ये। दोनों संपादकों ने हिन्दी और अंग्रेजी प्रस्तावना में मूलसम्बद्ध अनेक ज्ञातव्य विषयों की सुविशद चर्चा की है।

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, अपने कई प्रकाशनों से सुविदित है। मैं इसके नये प्रकाशनों के विषय में कहूँगा। पहला है 'न्यायविनिश्चय विवरण' प्रथम भाग। इसके संपादक हैं प्रसिद्ध पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य। अकलंक के मूल और वादिराज के विवरण की अन्य दर्शनों के साथ तुलना करके संपादक ने ग्रन्थ का महत्त्व बढ़ा दिया है। ग्रन्थ की प्रस्तावना में संपादक ने स्याद्वादसंबंधी विद्वानों के भ्रमों का निरसन करने का प्रयत्न किया है। उन्हीं का दूसरा संपादन है तत्त्वार्थ की 'श्रुतसागरी टीका'। उसकी प्रस्तावना में अनेक ज्ञातव्य विषयों की चर्चा सुविशद रूप से की गई है। खास कर 'लोक वर्णन और भूगोल' संबंधी भाग बड़े महत्त्व का है। उसमें उन्होंने जैन, बौद्ध, वैदिक परंपरा के मन्तव्यों की तुलना की है। ज्ञानपीठ का तीसरा प्रकाशन है—'समयसार' का अंग्रेजी अनुवाद। इसके संपादक हैं वयोवृद्ध विद्वान् प्रो० ए. चक्रवर्ती। इस ग्रन्थ की भूमिका जैन दर्शन के महत्त्वपूर्ण विषयों से परिपूर्ण है। पर उन्हों ने शंकराचार्य पर कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र के प्रभाव की जो संभावना की है वह चिन्त्य है।[1] इसके अलावा 'महापुराण' का नया संस्करण हिन्दी अनुवाद के साथ भी प्रकाशित हुआ है। अनुवादक हैं श्री पं० पन्नालाल, साहित्याचार्य। संस्कृत-प्राकृत छन्दःशास्त्र के सुविद्वान् प्रो० एच् डी. वेलणकर ने सभाष्य 'रत्नमंजूषा' का संपादन किया है। इस ग्रन्थ में उन्हों ने टिप्पण भी लिखा है।

आचार्य श्री मुनि जिनविजय जी के मुख्य संपादकत्व में प्रकाशित होने वाली 'सिंघी जैन ग्रन्थ माला' से शायद ही कोई विद्वान् अपरिचित हो।

---

१. देखो, प्रो० विमलदास कृत समालोचना; ज्ञानोदय—सितम्बर १९५१।

पिछले वर्षों में जो पुस्तकें प्रसिद्ध हुई हैं उनमें से कुछ का परिचय देना आवश्यक है। 'न्यायावतार-वार्तिक-वृत्ति' यह जैन न्याय विषयक ग्रन्थ है। इसमें मूल कारिकाएँ सिद्धसेन कृत हैं। उनके ऊपर पद्यबद्ध वार्तिक और उसकी गद्य वृत्ति शान्त्याचार्य कृत हैं। इसका संपादन पं० दलसुख मालवणिया ने किया है। संपादक ने जो विस्तृत भूमिका लिखी है उसमें आगम काल से लेकर एक हजार वर्ष तक के जैन दर्शन के प्रमाण-प्रमेय विषयक चिन्तन का ऐतिहासिक व तुलनात्मक निरूपण है। ग्रन्थ के अन्त में संपादक ने अनेक विषयों पर टिप्पण लिखे हैं जो भारतीय दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करने वालों के लिए ज्ञातव्य हैं।

प्रो० दामोदर धर्मानन्द कोसंबी संपादित 'शतकत्रयादि', प्रो० अमृतलाल गोपाणी संपादित 'भद्रबाहु संहिता', आचार्य जिनविजयजी संपादित 'कथा कोष-प्रकरण', मुनि श्री पुण्यविजय जी संपादित 'धर्माभ्युदय महाकाव्य' इन चार ग्रन्थों के प्रास्ताविक व परिचय में साहित्य, इतिहास तथा संशोधन में रस लेने वालों के लिए बहुत कीमती सामग्री है।

'षट्खण्डागम' की 'धवला' टीका के नव भाग प्रसिद्ध हो गए हैं। यह अच्छी प्रगति है। किन्तु 'जयधवला' टीका के अभी तक दो ही भाग प्रकाशित हुए हैं। आशा की जाती है कि ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन में शीघ्रता होगी। भारतीय ज्ञानपीठ ने 'महाबंध' का एक भाग प्रकाशित किया किन्तु इसकी भी प्रगति रुकी हुई है। यह भी शीघ्रता से प्रकाशित होना जरूरी है।

'यशोविजय जैनग्रन्थ माला' पहले काशी से प्रकाशित होती थी। उसका पुनर्जन्म भावनगर में स्व० मुनि श्री जयन्तविजय जी के सहकार से हुआ है। उस ग्रन्थमाला में स्व० मुनि श्री जयन्तविजय जी के कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उनका निर्देश करना आवश्यक है। "तीर्थराज आबु" यह 'आबु' नाम से प्रथम प्रकाशित पुस्तक का तृतीय संस्करण है। इसमें ८० चित्र हैं। और संपूर्ण आबु का पूरा परिचय है। इस पुस्तक की यह भी एक विशेषता है कि आबु के प्रसिद्ध मंदिर विमल वसही और लूणिग वसही में उत्कीर्ण कथा-प्रसंगों का पहली बार यथार्थ परिचय कराया गया है। 'अर्बुदाचल प्राचीन जैन लेख संदोह' यह भी उक्त मुनि जी का ही संपादन है। इसमें आबु में प्राप्त समस्त जैन शिलालेख सानुवाद दिये गए हैं। इसके अलावा इसमें अनेक उपयोगी परिशिष्ट भी हैं। उन्हीं की एक अन्य पुस्तक 'अचलगढ़' है जिसकी

द्वितीय आवृत्ति हाल में ही हुई है। उन्हीं का एक और ग्रन्थ 'अर्बुदाचल प्रदक्षिणा' भी प्रकाशित हुआ है। इसमें आबु पहाड़ के और उसके आस-पास के ९७ गाँवों का वर्णन है, चित्र हैं और नक्शा भी दिया हुआ है। इसी का सहचारी एक और ग्रन्थ भी मुनि जी ने 'अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेख संदोह' नाम से संपादित किया है। इसमें प्रदक्षिणा गत गांवों के शिलालेख सानुवाद हैं। ये सभी ग्रन्थ ऐतिहासिकों के लिए अच्छी खोज की सामग्री उपस्थित करते हैं।

वीरसेवा मंदिर, सरसावा के प्रकाशनों में से 'पुरातन जैन वाक्य सूची' प्रथम उल्लेख योग्य है। इसके संग्राहक-संपादक हैं वयोवृद्ध कर्मठ पंडित श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार। इसमें मुख्तार जी ने दिगम्बर प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों की कारिकाओं की अकारादि-क्रम से सूची दी है। संशोधक विद्वानों के लिए बहुमूल्य पुस्तक है। उन्हीं मुख्तार जी ने 'स्वयंभूस्तोत्र' और 'युक्त्यनुशासन, का भी अनुवाद प्रकाशित किया है। संस्कृत नहीं जानने वालों के लिए श्री मुख्तार जी ने यह अच्छा संस्करण उपस्थित किया है। इसी प्रकार मंदिर की ओर से पं० श्री दरबारी लाल कोठिया कृत 'आप्तपरीक्षा' का हिन्दी अनुवाद भी प्रसिद्ध हुआ है। वह भी जिज्ञासुओं के लिए अच्छी सामग्री उपस्थित करता है।

'श्री दिगम्बर जैन क्षेत्र श्री महावीर जी' यह एक तीर्थ रक्षक संस्था है किन्तु उसके संचालकों के उत्साह के कारण उसने जैन साहित्य के प्रकाशन के कार्य में भी रस लिया है और दूसरी वैसी संस्थाओं के लिए भी वह प्रेरणादायी सिद्ध हुई है। उस संस्था की ओर से प्रसिद्ध आमेर (जयपुर) भंडार की सूची प्रकाशित हुई है। और 'प्रशस्तिसंग्रह' नाम से उन हस्तलिखित प्रतियों के अंत में दी गई प्रशस्तिओं का संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। उक्त सूची से प्रतीत होता है कि कई अपभ्रंश ग्रन्थ अभी प्रकाशन की राह देख रहे हैं। उसी संस्था की ओर से जैनधर्म के जिज्ञासुओं के लिए छोटी छोटी पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं। 'सर्वार्थ सिद्धि' नामक 'तत्त्वार्थसूत्र' की व्याख्या का संक्षिप्त संस्करण भी प्रकाशित हुआ है।

माणिकचन्द्र दि० जैन-ग्रन्थ माला, बंबई की ओर से कवि हस्तिमल्ल के शेष दो नाटक 'अंजना-पवनंजय नाटक and सुभद्रा नाटिका' के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। उनका संपादन प्रो० एम्. वी. पटवर्धन ने एक विद्वान् को शोभा देने वाला किया है। ग्रन्थ की प्रस्तावना से प्रतीत होता है कि संपादक संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ पंडित हैं।

वीर शासन संघ, कलकत्ता की ओर से "The Jaina Monuments and Places of First class Importance" यह ग्रन्थ श्री टी० एन्० रामचन्द्र द्वारा संगृहीत होकर प्रकाशित हुआ है। श्री रामचन्द्र इसी विषय के मर्मज्ञ पंडित हैं अतएव उन्होंने अपने विषय को सुचारु रूप से उपस्थित किया है। लेखक ने पूर्वबंगाल में जैनधर्म—इस विषय पर उक्त पुस्तक में जो लिखा है वह विशेषतया ध्यान देने योग्य है।

डॉ० मह्राण्डले ने 'Historical Grammar of Inscriptional Prakrits (पूना १९४८) में प्रमुख प्राकृत शिलालेखों की भाषा का अच्छा विश्लेषण किया है। और अभी अभी Dr. Bloch ने 'Les Inscriptions d' Asoka (Paris 1950) में अशोक के शिलालेखों की भाषा का अच्छा विश्लेषण किया हैं।

भारतीय पुरातत्त्व के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० विमलाचरण लॉ ने कुछ जैन सूत्रों के विषय में लेख लिखे थे। उनका संग्रह 'सम् जैन केनोनिकल सूत्राज्' इस नाम से रॉयल एशियाटिक सोसायटी की बंबई शाखा की ओर से प्रसिद्ध हुआ है। जैन सूत्रों के अध्ययन की दिशा इन लेखों से प्राप्त होती है। लेखक ने इस पुस्तक में कई बातें ऐसी भी लिखी हैं जिनसे सहमत होना संभव नहीं।

प्रो० कापड़िया ने गुजराती भाषा में 'पाइय भाषाओ अने साहित्य' नामक एक छोटी सी पुस्तिका लिखी है। इसमें ज्ञातव्य सभी बातों के समावेश का प्रयत्न होने से पुस्तिका उपयोगी सिद्ध हुई है। किन्तु इसमें भी कई बातें ऐसी लिखी हैं जिनकी जाँच होना जरूरी है। उन्होंने जो कुछ लिखा है उसमें बहुत सा ऐसा भी ह जो उनके पुरोगामी लिख चुके हैं किन्तु प्रो० कापड़िया ने उनका निर्देश नहीं किया।

जैन मर्तियों पर उत्कीर्ण लेखों का एक संग्रह 'जैन धातु प्रतिमा लेख' नाम से मुनि श्री कान्तिसागर जी के द्वारा संपादित होकर सूरत से प्रकाशित हुआ है। इसमें तेरहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के लेख हैं।

जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद भी एक पुरानी प्रकाशक संस्था है। यद्यपि इसके प्रकाशन केवल पुरानी शैली से ही होते रहते हैं तथापि उसके द्वारा प्रकाशित प्राचीन और नव निर्मित अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन अभ्यासी के लिए उपेक्षणीय नहीं है।

जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी, बनारस को स्थापित हुए सात वर्ष हुए हैं। उसने इतने अल्प काल में तथा अतिपरिमित साधनों की हालत में संशोधनात्मक दृष्टि से लिखी गई जो अनेक पत्रिकाएँ तथा कई पुस्तकें हिन्दी व अंग्रेजी में प्रसिद्ध की हैं एवं भिन्न भिन्न विषय के उच्च उच्चतर अभ्यासिओं को तैयार करने का प्रयत्न किया है वह आशास्पद है। डॉ० नथमल टाटिया का D. Litt. उपाधि का महानिबन्ध 'स्टडीज् इन् जैन फिलॉसॉफी' छपकर तैयार है। इस निबन्ध में डॉ० टाटिया ने जैन दर्शन से सम्बद्ध तत्त्व, ज्ञान, कर्म, योग जैसे विषयों पर विवेचनात्मक व तुलनात्मक विशिष्ट प्रकाश डाला है। शायद अंग्रेजी में इस ढंग की यह पहली ही पुस्तक है।

आचार्य हेमचन्द्र कृत 'प्रमाण-मीमांसा' मूल और हिन्दी टिप्पणियों के साथ प्रथम सिंघी सिरीज में प्रकाशित हो चुकी है। पर उसका प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद न था। इस अभाव की पूर्ति डॉ० सातकोडी मुखर्जी और डॉ० नथमल टाटिया ने की है। 'प्रमाण-मीमांसा' के प्रस्तुत अनुवाद द्वारा जैन दर्शन व प्रमाण शास्त्र की परिभाषाओं के लिए अंग्रेजी समुचित रूपान्तर की सामग्री उपस्थित की गई हैं, जो अंग्रेजी द्वारा शिक्षा देने और पाने वालों की दृष्टि से बहुत उपकारक है।

प्रो० भोगीलाल सांडेसरा का Ph. D. का महानिबन्ध 'कन्ट्रीब्यूशन टु संस्कृत लिटरेचर ऑफ वस्तुपाल एण्ड हिज लिटरेरी सर्कल' प्रेस में है और शीघ्र ही सिंघी सिरीज से प्रकाशित होने वाला है। यह निबन्ध साहित्यिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से जितना गवेषणापूर्ण है उतना ही महत्त्व का भी है।

प्रो० विलास आदिनाथ संघवे ने Ph. D. के लिए जो महानिबन्ध लिखा है उसका नाम है Jaina Community—A Social Survey—इस महानिबन्ध में प्रो० संघवे ने पिछली जनगणनाओं के आधार पर जैन संघ की सामाजिक परिस्थिति का विवेचन किया है। साथ ही जैनों के सिद्धान्तों का भी संक्षेप में सुंदर विवेचन किया है। यह ग्रन्थ 'जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी' की ओर से प्रकाशित होगा। उसी सोसाइटी की ओर से डॉ० बागची की पुस्तक Jain Epistemology छप रही है।

डॉ० जगदीशचन्द्र जैन Ph. D. की पुस्तक 'लाईफ़ इन् एन्शयन्ट इण्डिया, एज़ डिपिक्टेड् इन जैन केनन्स्', बंबई की न्यू बुक कंपनी ने प्रकाशित की है। न केवल जैन परंपरा के बल्कि भारतीय परंपरा के अभ्यासियों एवं संशोधकों

के सम्मुख बहुत उपयोगी सामग्री उक्त पुस्तक में है। उन्हीं की एक हिन्दी पुस्तक 'भारत के प्राचीन जैन-तीर्थ' शीघ्र ही 'जैन कल्चरल् रिसर्च सोसायटी' से प्रकाशित हो रही है।

गुजरात विद्यासभा (भो० जे० विद्याभवन) अहमदाबाद की ओर से तीन पुस्तकें यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होने वाली हैं जिनमें से पहली है—'गणधर-वाद'–गुजराती भाषान्तर। अनुवादक पं० दलसुख मालवणिया ने इसका मूल पाठ जैसलमेर स्थित सबसे अधिक पुरानी प्रति के आधार से तैयार किया है और भाषान्तर के साथ महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना भी जोड़ी है। 'जैन आगममां गुजरात' और 'उत्तराध्ययन' का पूर्वार्ध-अनुवाद, ये दो पुस्तकें डॉ० भोगीलाल सांडेसरा ने लिखी हैं। प्रथम में जैन आगमिक साहित्य में पाये जाने वाले गुजरात संबंधी उल्लेखों का संग्रह व निरूपण है और दूसरी में उत्तराध्ययन मूल की शुद्ध वाचना के साथ उसका प्रामाणिक भाषान्तर है।

श्री साराभाई नवाब, अहमदाबाद के द्वारा प्रकाशित निम्नलिखित पुस्तकें अनेक दृष्टियों से महत्त्व की हैं—'कालकाचार्य कथासंग्रह' संपादक पं० अंबालाल प्रेमचन्द्र शाह। इसमें प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल तक लिखी गई काल-काचार्य की कथाओं का संग्रह है और उनका सार भी दिया हुआ है। ऐति-हासिक गवेषकों के लिए यह पुस्तक महत्त्व की है। डॉ० मोतीचन्द्र की पुस्तक—'जैन मिनियेचर पेइन्टिंग्ज फ्रॉम वेस्टर्न इण्डिया' यह जैन हस्तलिखित प्रतों में चित्रित चित्रों के विषय में अभ्यासपूर्ण है। उसी प्रकाशक की ओर से 'कल्पसूत्र' शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। इसका संपादन श्री मुनि पुण्यविजय जी ने किया है और गुजराती अनुवाद पं० बेचरदास जी ने।

मूलरूप में पुराना, पर इस युग में नये रूप से पुनरुज्जीवित एक साहित्य संरक्षक मार्ग का निर्देश करना उपयुक्त होगा। यह मार्ग है शिला व धातु के ऊपर साहित्य को उत्कीर्ण करके चिरजीवित रखने का। इसमें सबसे पहले पालीताना के आगममंदिर का निर्देश करना चाहिए। उसका निर्माण जैन साहित्य के उद्धारक, समस्त आगमों और आगमेतर सैकड़ों पुस्तकों के संपादक आचार्य सागरानन्द सूरि जी के प्रयत्न से हुआ है। उन्होंने ऐसा ही एक दूसरा मंदिर सूरत में भी बनवाया है। प्रथम में शिलाओं के ऊपर और दूसरे में ताम्रपटों के ऊपर प्राकृत जैन आगमों को उत्कीर्ण किया गया है। हम लोगों के दुर्भाग्य से ये साहित्यसेवी सूरि अब हमारे बीच नहीं हैं। ऐसा ही प्रयत्न षट्खंडागम की सुरक्षा का हो रहा है। वह भी ताम्रपट पर उत्कीर्ण

हो रहा है। किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक तरीके का उपयोग तो मुनि श्री पुण्य विजय जी ने ही किया है। उन्होंने जैसलमेर के भंडार की कई प्रतिओं का सुरक्षा और सर्व सुलभ करने की दृष्टि से माइक्रोफिल्मिग कराया है।

संशोधकों व ऐतिहासिकों का ध्यान खींचने वाली एक नई संस्था का अभी प्रारंभ हुआ है। राजस्थान सरकार ने मुनि श्री जिन विजय जी की अध्यक्षता में 'राजस्थान पुरातत्त्व मंदिर' की स्थापना की है। राजस्थान में सांस्कृतिक व ऐतिहासिक अनेकविध सामग्री बिखरी पड़ी है। इस संस्था द्वारा वह सामग्री प्रकाश में आएगी तो संशोधन क्षेत्र का बड़ा उपकार होगा।

प्रो० एच० डी० वेलणकर ने हरितोषमाला नामक ग्रन्थ माला में 'जयदामन्' नाम से छन्दःशास्त्र के चार प्राचीन ग्रन्थ संपादित किये हैं। 'जयदेव छन्दस्', जयकीर्ति कृत–'छन्दोनुशासन', केदार का 'वृत्तरत्नाकर', और आ॰ हेमचन्द्र का 'छन्दोनुशासन' इन चार ग्रन्थों का उसमें समावेश हुआ है।

'Studien zum Mahanisiha' नाम से हेमबर्ग से अभी अभी एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसमें महानिशीथ नामक जैन छेदग्रन्थ के छठे से आठवें अध्ययन तक का विशेषरूप से अध्ययन Frank Richard Hamn और डॉ० शुब्रिगने करके अपने अध्ययन का जो परिणाम हुआ उसे लिपिबद्ध कर दिया है।

जैन दर्शन—

जैन दर्शन से सम्बन्ध रखने वाले कुछ ही मुद्दों पर संक्षेप में विचार करना यहाँ इष्ट है। निश्चय और व्यवहार नय जैन परम्परा में प्रसिद्ध हैं, विद्वान लोग जानते हैं कि इसी नय विभाग की आधारभूत दृष्टि का स्वीकार इतर दर्शनों में भी है। बौद्ध दर्शन बहुत पुराने समय से परमार्थ और संवृति इन दो दृष्टियों से निरूपण करता आया है।[1] शांकर वेदान्त की पारमार्थिक तथा व्यावहारिक या मायिक दृष्टि प्रसिद्ध है। इस तरह जैन-जैनेतर दर्शनों में परमार्थ या निश्चय और संवृति या व्यवहार दृष्टि का स्वीकार तो है, पर उन दर्शनों में उक्त दोनों दृष्टियों से किये जाने वाला तत्त्वनिरूपण बिल्कुल जुदा जुदा है। यद्यपि जैनेतर सभी दर्शनों में निश्चय दृष्टि सम्मत तत्त्व-निरूपण एक नहीं है, तथापि सभी मोक्षलक्षी दर्शनों में निश्चय दृष्टि सम्मत आचार व चारित्र एक ही है, भले ही परिभाषा वर्गीकरण आदि भिन्न हों।[2]

---

१. कथावत्थु, माध्यमक कारिका आदि।

२. चतुःसत्य, चतुर्व्यूह, व आस्रव-बंधादि चतुष्क।

यहाँ तो यह दिखाना है कि जैन परम्परा में जो निश्चय और व्यवहार रूप से दो दृष्टियाँ मानी गई हैं वे तत्त्वज्ञान और आचार दोनों क्षेत्रों में लागू की गई हैं। इतर सभी भारतीय दर्शनों की तरह जैनदर्शन में भी तत्त्वज्ञान और आचार दोनों का समावेश है। जब निश्चय-व्यवहार नय का प्रयोग तत्त्वज्ञान और आचार दोनों में होता है तब, सामान्य रूप से शास्त्र चिन्तन करने वाला यह अन्तर जान नहीं पाता कि तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में किया जाने वाला निश्चय और व्यवहार का प्रयोग आचार के क्षेत्र में किये जाने वाले वैसे प्रयोग से भिन्न है और भिन्न परिणाम का सूचक भी है। तत्त्वज्ञान की निश्चय दृष्टि और आचार विषयक निश्चय दृष्टि ये दोनों एक नहीं। इसी तरह उभय विषयक व्यवहार दृष्टि के बारे में भी समझना चाहिए इसका स्पष्टीकरण यों है :—

जब निश्चय दृष्टि से तत्त्व का स्वरूप प्रतिपादन करना हो तो उसकी सीमा में केवल यही बात आनी चाहिए कि जगत के मूल तत्त्व क्या हैं? कितने हैं? और उनका क्षेत्र-काल आदि निरपेक्ष स्वरूप क्या है? और जब व्यवहार दृष्टि से तत्त्व निरूपण इष्ट हो तब उन्हीं मूल तत्त्वों का द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि से सापेक्ष स्वरूप प्रतिपादित किया जाता है। इस तरह हम निश्चय दृष्टि का उपयोग करके जैन दर्शन सम्मत तत्त्वों का स्वरूप कहना चाहें तो संक्षेप में यह कह सकते हैं कि चेतन, अचेतन ऐसे परस्पर अत्यन्त विजातीय दो तत्त्व हैं। दोनों एक दूसरे पर असर डालने की शक्ति भी धारण करते हैं। चेतन का संकोच विस्तार यह द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि सापेक्ष होने से व्यवहारदृष्टि सिद्ध है। अचेतन पुद्गल का परमाणुरूपत्व या एक प्रदेशावगाह्यत्व यह निश्चयदृष्टि का विषय है, जबकि उसका स्कन्धपरिणमन या अपने क्षेत्र में अन्य अनन्त परमाणु और स्कन्धों को अवकाश देना यह व्यवहारदृष्टि का निरूपण है। परन्तु आचारलक्षी निश्चय और व्यवहार दृष्टि का निरूपण जुदे प्रकार से होता है। जैनदर्शन मोक्ष को परम पुरुषार्थ मानकर उसी की दृष्टि से आचार की व्यवस्था करता है। अतएव जो आचार सीधे तौर से मोक्षलक्षी है वही नैश्चयिक आचार है इस आचार में दृष्टिभ्रम और काषायिक वृत्तियों के निर्मूलीकरण मात्र का समावेश होता है। पर व्यावहारिक आचार ऐसा एकरूप नहीं। नैश्चयिक आचार की भूमिका से निष्पन्न ऐसे भिन्न भिन्न देश-काल-जाति-स्वभाव-रुचि आदि के अनुसार कभी कभी परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले भी आचार व्यावहारिक आचार कोटि में गिने जाते हैं। नैश्चयिक आचार की भूमिका पर वर्तमान एक ही व्यक्ति

अनेकविध व्यावहारिक आचारों में से गुजरता है इस तरह हम देखते हैं कि आचारगामी नैश्चयिक दृष्टि या व्यावहारिक दृष्टि मुख्यतया मोक्ष पुरुषार्थ की दृष्टि से ही विचार करती है। जब कि तत्त्वनिरूपक निश्चय या व्यवहार दृष्टि केवल जगत के स्वरूप को लक्ष्य में रखकर ही प्रवृत्त होती है। तत्त्वज्ञान और आचार लक्षी उक्त दोनों नयों में एक दूसरा भी महत्त्व का अन्तर है, जो ध्यान देने योग्य है।

नैश्चयिक दृष्टि सम्मत तत्त्वों का स्वरूप हम सभी साधारण जिज्ञासु कभी प्रत्यक्ष कर नहीं पाते। हम ऐसे किसी व्यक्ति के कथन पर श्रद्धा रखकर ही वैसा स्वरूप मानते हैं कि जिस व्यक्ति ने तत्त्वस्वरूप का साक्षात्कार किया हो। पर आचार के बारे में ऐसा नहीं हैं। कोई भी जागरूक साधक अपनी आन्तरिक सत्-असत् वृत्तियों को व उनकी तीव्रता-मन्दता के तारतम्य को सीधा अधिक प्रत्यक्ष जान सकता है। जब कि अन्य व्यक्ति के लिए पहले व्यक्ति की वृत्तियाँ सर्वथा परोक्ष हैं। नैश्चयिक हो या व्यावहारिक, तत्त्वज्ञान का स्वरूप उस उस दर्शन के सभी अनुयायियों के लिए एक सा है तथा समान परिभाषाबद्ध है। पर नैश्चयिक व व्यावहारिक आचार का स्वरूप ऐसा नहीं। हरएक व्यक्ति का नैश्चयिक आचार उसके लिए प्रत्यक्ष है। इस अल्प विवेचन से मैं केवल इतना ही सूचित करना चाहता हूँ कि निश्चय और व्यवहार नय ये दोनों शब्द भले ही समान हों। पर तत्त्वज्ञान और आचार के क्षेत्र में भिन्न भिन्न अभिप्राय से लागू होते हैं, और हमें विभिन्न परिणामों पर पहुँचाते हैं।

निश्चयदृष्टि से जैन तत्त्वज्ञान की भूमिका औपनिषद तत्त्वज्ञान से बिल्कुल भिन्न हैं। प्राचीन माने जाने वाले सभी उपनिषद सत्, असत्, आत्मा, ब्रह्म, अव्यक्त, आकाश, आदि भिन्न भिन्न नामों से जगत के मूल का निरूपण करते हुए केवल एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जगत् जड़-चेतन आदि रूप में कैसा ही नानारूप क्यों न हो, पर उसके मूल में असली तत्त्व तो केवल एक ही है। जब कि जैनदर्शन जगत् के मूल में किसी एक ही तत्त्व का स्वीकार नहीं करता, प्रत्युत परस्पर विजातीय ऐसे स्वतन्त्र दो तत्त्वों का स्वीकार करके उसके आधार पर विश्व के वैश्वरूप्य की व्यवस्था करता है। चौबीस तत्त्व मानने वाले सांख्य दर्शन को और शांकर आदि वेदान्त शाखाओं को छोड़ कर–भारतीय दर्शनों में ऐसा कोई दर्शन नहीं जो जगत के मूलरूप से केवल एक तत्त्व स्वीकार करता हो। न्याय-वैशेषिक हो या सांख्य-योग हो, या पूर्व मीमांसा हो सभी अपने अपने ढंग से जगत के मूल में अनेक तत्त्वों का स्वीकार करते हैं। इससे स्पष्ट है कि जैन तत्त्वचिन्तन की प्रकृति औपनिषद तत्त्वचिन्तन की प्रकृति

से सर्वथा भिन्न हैं। ऐसा होते हुए भी जब डॉ० रानडे जैसे सूक्ष्म तत्त्वचिन्तक उपनिषदों में जैन तत्त्वचिन्तन का उद्गम दिखाते हैं तब विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि यह केवल उपनिषद भक्ति की आत्यन्तिकता है।[१] इस तरह उन्होंने जो बौद्धदर्शन या न्याय-वैशेषिक दर्शन का सम्बन्ध उपनिषदों से जोड़ा है वह भी मेरी राय में भ्रान्त है। इस विषय में मेक्समूलर[२] और डॉ० ध्रुव आदि की दृष्टि जैसी स्पष्ट है वैसी बहुत कम भारतीय विद्वानों की होगी। डॉ० रानडे की अपेक्षा प्रो० हरियन्ना व डॉ० एस० एन० दासगुप्त का निरूपण मूल्यवान है। जान पड़ता है कि उन्होंने अन्यान्य दर्शनों के मूल-ग्रन्थों को विशेष सहानुभूति व गहराई से पढ़ा है।

अनेकान्त वाद[3]

हम सभी जानते हैं कि बुद्ध अपने को विभज्यवादी[४] कहते हैं। जैन आगमों में महावीर को भी विभज्यवादी सूचित किया है।[५] विभज्यवाद का मतलब पृथक्करण पूर्वक सत्य-असत्य का निरूपण व सत्यों का यथावत् समन्वय करना है। विभज्यवाद के गर्भ में ही किसी भी एकान्त का परित्याग सूचित है। एक लम्बी वस्तु के दो छोर ही उसके दो अन्त हैं। अन्तों का स्थान निश्चित है। पर उन दो अन्तों के बीच का अन्तर या बीच का विस्तार—अन्तों की तरह स्थिर नहीं। अतएव दो अन्तों का परित्याग करके बीच के मार्ग पर चलने वाले सभी एक जैसे हो ही नहीं सकते यही कारण है कि विभज्यवादी होने पर भी बुद्ध और महावीर की दृष्टि में कई बातों में बहुत अन्तर रहा है। एक व्यक्ति अमुक विवक्षा से मध्यममार्ग या विभज्यवाद घटाता है तो दूसरा व्यक्ति अन्य विवक्षा से घटाता है। पर हमें ध्यान रखना चाहिए कि ऐसी भिन्नता होते हुए भी बौद्ध और जैनदर्शन की आत्मा तो विभज्यवाद ही है।

विभज्यवाद का ही दूसरा नाम अनेकान्त है, क्यों कि विभज्यवाद में एकान्तदृष्टिकोण का त्याग है। बौद्ध परम्परा में विभज्यवाद के स्थान में मध्यम मार्ग शब्द विशेष रूढ़ है। हमने ऊपर देखा कि अन्तों का परित्याग करने पर भी अनेकान्त के अवलम्बन में भिन्न भिन्न विचारों का भिन्न भिन्न दृष्टि-

---

१. कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक् फिलॉसॉफी पृ० १७९
२. दि सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलॉसॉफी
३. प्रमाणमीमांसा भाषाटिप्पण पृ० ६१
४. मज्झिमनिकाय सुत्त ९९
५. सूत्रकृतांग १. १४. २२.

कोण सम्भव है। अतएव हम न्याय, सांख्य-योग और मीमांसक जैसे दर्शनों में भी विभज्यवाद तथा अनेकान्त शब्द के व्यवहार से निरूपण पाते हैं। अक्षपाद कृत "न्यायसूत्र" के प्रसिद्ध भाष्यकार वात्स्यायन ने २-१-१५, १६ के भाष्य में जो निरूपण किया है वह अनेकान्त का स्पष्ट द्योतक है और "यथा दर्शनं विभागवचनं" कहकर तो उन्होंने विभज्यवाद के भाव को ही ध्वनित किया है। हम सांख्यदर्शन की सारी तत्त्वचिन्तन प्रक्रिया को ध्यान से देखेंगे तो मालूम पड़ेगा कि वह अनेकान्त दृष्टि से निरूपित है। "योगदर्शन" के ३-१३ सूत्र के भाष्य तथा तत्त्व वैशारदी विवरण को ध्यान से पढ़ने वाला सांख्य-योग दर्शन की अनेकान्त दृष्टि को यथावत् समझ सकता है कुमारिल ने भी "श्लोक वार्तिक" और अन्यत्र अपनी तत्त्वव्यवस्था में अनेकान्तदृष्टि का उपयोग किया है,[1] उपनिषदों के समान आधार पर केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि जो अनेक वाद स्थापित हुए हैं वे वस्तुतः अनेकान्त विचार सरणी के भिन्न भिन्न प्रकार हैं। तत्त्वचिन्तन की बात छोड़ कर हम मानवयूथों के जुदे जुदे आचार व्यवहरों पर ध्यान देंगे तो भी उनमें अनेकान्त दृष्टि पायेंगे। वस्तुतः जीवन का स्वरूप ही ऐसा है कि जो एकान्तदृष्टि में पूरा प्रकट हो ही नहीं सकता। मानवीय व्यवहार भी ऐसा है कि जो अनेकान्त दृष्टि का अन्तिम अवलम्बन बिना लिये निभ नहीं सकता। इस संक्षिप्त प्रतिपादन से केवल इतना ही सूचित करना है कि हम संशोधक अभ्यासियों को हर एक प्रकार की अनेकान्तदृष्टि को, उसके निरूपक की भूमिका पर रहकर ही समझने का प्रयत्न करना चाहिए ऐसा करने पर हम न केवल भारतीय संस्कृति के किन्तु मानवीय संस्कृति के हर एक वर्तुल में भी एक व्यापक समन्वय का सूत्र पाएँगे।

अनेकान्त दृष्टि में से ही नयवाद तथा सप्तभंगी विचार का जन्म हुआ है। अतएव मैं नयवाद तथा सप्तभंगी विचार के विषय में कुछ प्रकीर्ण विचार उपस्थित करता हूँ। नय सात माने जाते हैं। उनमें पहले चार अर्थनय और पिछले तीन शब्द नय हैं। महत्त्व के भिन्न भिन्न दार्शनिक मन्तव्यों को उस उस दर्शन के दृष्टिकोण की भूमिका पर ही नयवाद के द्वारा समझाने का तथा व्यवस्थित करने का तत्कालीन जैन आचार्यों का उद्देश्य रहा है। दार्शनिक विचारों के विकास के साथ ही जैन आचार्यों में संभवित अध्ययन के आधार पर नय विचार में भी उस विकास का समावेश किया है। यह बात इतिहास सिद्ध है। भगवान् महावीर के शुद्धिलक्षी जीवन का तथा तत्कालीन शासन

१. श्लोक वार्तिक, आत्मवाद २९-३० आदि।

का विचार करने से जान पड़ता है कि नयवाद मूल में अर्थनय तक ही सीमित होगा। जब शासन के प्रचार के साथ साथ व्याकरण, निरुक्त, निघंटु, कोष जैसे शास्त्रान्तरों का अध्ययन बढ़ता गया तब विचक्षण आचार्यों ने नयवाद में शब्द-स्पर्शी विचारों को भी शब्दनय रूप से स्थान दिया। संभव है शुरू में शब्द-नयों में एक शब्दनय ही रहा हो। इसकी पुष्टि में यह कहा जा सकता है कि निर्युक्ति में नयों की पांच संख्या का भी एक विकल्प है।[1] क्रमशः शब्द नय के तीन भेद हुए जिसके उदाहरण व्याकरण, निरुक्त, कोष आदि के शब्द प्रधान विचारों से ही लिये गए हैं।

प्राचीन समय में वेदान्त के स्थान में सांख्य-दर्शन ही प्रधान था इसी से आचार्यों ने संग्रह नय के उदाहरण रूप से सांख्यदर्शन को लिया है। पर शंक-राचार्य के बाद ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा बढ़ी, तब जैन विद्वानों ने संग्रह नय के उदाहरण रूप से ब्रह्मवाद को ही लिया है। इसी तरह शुरू में ऋजुसूत्र का उदाहरण सामान्य बौद्ध दर्शन था। पर जब उपाध्याय यशोविजय जी जैसों ने देखा कि बौद्ध दर्शन के तो वैभाषिक आदि चार भेद हैं तब उन्होंने उन चारों शाखाओं का ऋजुसूत्र नय में समावेश किया।

इस चर्चा से सूचित यह होता है कि नयवाद मूल में भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों का संग्राहक है। अतएव उसकी संग्राहक सीमा अध्ययन व चिन्तन की वृद्धि के साथ ही बढ़ती रही है। ऐसी हालत में जैन दर्शन के अभ्यासी एवं संशो-धकों का कर्तव्य हो जाता है कि वे आधुनिक विशाल ज्ञान सामग्री का उपयोग करें और नय विचार का क्षेत्र सर्वांगीण यथार्थ अध्ययन से विस्तृत करें, केवल एक देशीयता से संतुष्ट न रहें।

"नैगम" शब्द की "नैक+गम," नैग (अनेक)+म तथा 'निगमे भवः' जैसी तीन व्युत्पत्तियाँ निर्युक्ति आदि ग्रन्थों में पाई जाती हैं।[2] पर वस्तुस्थिति के साथ मिलान करने से जान पड़ता है कि तीसरी व्युत्पत्ति ही विशेष ग्राह्य है, उसके अनुसार अर्थ होता है कि जो विचार या व्यवहार निगम में—व्यापार व्यवसाय करने वाले महाजनों के स्थान में होता है वह नैगम।[3] जैसे महाजनों के व्यवहार में भिन्न भिन्न मतों का समावेश होता है, वैसे ही इस नय में भिन्न भिन्न तात्त्विक मन्तव्यों का समावेश विवक्षित है। पहली दो व्युत्पत्तियाँ

---

१. आवश्यक निर्युक्ति गा० ७५९

२. आवश्यक निर्युक्ति गा० ७५५; तत्त्वार्थभाष्य १. ३५; स्थानांगटीका स्था० ७। ३. भगवती शतक १. उद्देशा १०

की अनिवार्यता समझ कर ही सभी संतों ने पहले क्लेशनिवृत्ति पर ही भार दिया है। और वे अपने जीवन के उदाहरण से समझा गए हैं कि क्लेश-निवृत्ति के बाद वैयक्तिक तथा सामुदायिक जीवन में सद्गुणों की वृद्धि व पुष्टि का कैसे सम्यक् पुरुषार्थ करना।

तुरन्त करने योग्य काम—

कई भाण्डारों की सूचियाँ व्यवस्थित बनी हैं, पर छपी नहीं हैं तो कई सूचियाँ छपी भी हैं। और कई भाण्डारों की बनी ही नहीं है, कई की हैं तो व्यवस्थित नहीं हैं। मेरी राय में एक महत्त्व का काम यह है कि एक ऐसी महासूचि तैयार करनी चाहिए, जिसमें प्रो० वेलणकर की जिनरत्नकोष नामक सूचि के समावेश के साथ सब भाण्डरों की सूचियाँ आ जायँ। जो न बनी हों तैयार कराई जायँ, अव्यवस्थित व्यवस्थित कराई जायँ। ऐसी एक महासूचि होने से देशविदेश में वर्तमान यावत् जैन साहित्य की जानकारी किसी भी जिज्ञासु को घर बैठे सुकर हो सकेगी और काम में सरलता भी होगी। मद्रास में श्री राघवन संस्कृत ग्रन्थों की ऐसी ही सूचि तैयार कर रहे हैं। बर्लिन मेन्युस्क्रिप्ट की एक बड़ी विस्तृत सूचि अभी ही प्रसिद्ध हुई है। ऐसी ही वस्तुस्थिति अन्य पुरातत्त्वीय सामग्री के विषय में भी है। उसका भी संक-लन एक सूचि द्वारा जरूरी है।

अपभ्रंश भाषा के साहित्य के विशेष प्रकाशनों की आवश्यकता पर पहले के प्रमुखों ने कहा है, परन्तु उसके उच्चतर अध्ययन का विशिष्ट प्रबन्ध होना अत्यन्त जरूरी है। इसके सिवाय गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी, मराठी, बंगाली आदि भाषाओं के कड़ीबंध इतिहास लेखन का कार्य संभव ही नहीं। इसी तरह उच्च शिक्षा के लिए प्रांतीय भाषाओं को माध्यम बनाने का जो विचार चारों ओर विकसित हो रहा है, उसकी पूरी सफलता तभी संभव है जब उक्त भाषाओं की शब्द समृद्धि व विविध अर्थों को वहन करने की क्षमता बढ़ाई जाय। इस कार्य में अपभ्रंश भाषाओं का अध्ययन अनिवार्य रूप से अपेक्षित है।

प्राकृत विशेष नामों के कोष की उपयोगिता तथा जैन पारिभाषिक शब्द कोष की उपयोगिता के बारे में अतः पूर्व कहा गया है। मैं इस विषय में अधिक चर्चा न करके एक ऐसा सूचन करता हूँ जो मेरी राय में आज की स्थिति में सबसे प्रथम कर्तव्य है और जिसके द्वारा नये युग की माँग को

म लोग विशेष सरलता व एक सुचारु पद्धति से पूरा कर सकेंगे। वह चिन यह है :—

नवयुगीन साहित्यिक मर्यादाओं को समझने वालों की तथा उनमें रस लेने ालों की संख्या अनेक प्रकार से बढ़ रही है। नव शिक्षा प्राप्त अध्यापक वद्यार्थी आदि तो मिलते ही हैं, पर पुराने ढंग से पढ़े हुए पण्डितों व ब्रह्मचारी वं भिक्षुओं की काफी तादाद भी इस नये युग का बल जानने लगी है। व्य-सायी पर विद्याप्रिय धनवानों का ध्यान भी इस ओर गया है। जुदे जुदे न फिरकों में ऐसी छोटी बड़ी संस्थाएँ भी चल रही हैं तथा निकलती जा ही हैं जो नये युग की साहित्यिक आवश्यकता को थोड़ा बहुत पहचानती हैं और योग्य मार्ग दर्शन मिलने पर विशेष विकास करने की उदारवृत्ति भी धारण करती हैं।

यह सब सामग्री मामूली नहीं है, फिर भी हम जो काम जितनी त्वरा से और जितनी पूर्णता से करना चाहते हैं वह हो नहीं पाता। कारण एक ही है कि उक्त सब सामग्री बिखरी हुई कड़ियों की तरह एकसूत्रता-विहीन है।

हम सब जानते हैं कि पार्श्वनाथ और महावीर के तीर्थ का जो और जैसा कुछ अस्तित्व शेष है उसका कारण केवल संघ रचना व संघ व्यवस्था है। यह वस्तु हमें हजारों वर्ष से अनायास विरासत में मिली है. गाँव-गाँव, शहर-शहर में जहाँ भी जैन हैं, उनका अपने ढंग का संघ है।

हर एक फिरके के साधु–जति–भट्टारकों का भी संघ है। उस उस फिरके के तीर्थ–मन्दिर–धर्मस्थान भाण्डार आदि विशेष हितों की रक्षा तथा वृद्धि करने वाली कमेटियाँ—पेढ़ियाँ व कान्फरेन्सें तथा परिषदें भी हैं। यह सब संघशक्ति का ही निदर्शन है। जब इतनी बड़ी संघ शक्ति है तब क्या कारण है कि हम मन चाहे सर्वसम्मत साहित्यिक काम को हाथ में लेने से हिच-किचाते हैं ?

मुझको लगता है कि हमारी चिरकालीन संघशक्ति इसलिए कार्यक्षम साबित नहीं होती कि उसमें नव दृष्टि का प्राणस्पन्दन नहीं है। अतएव हमें एक ऐसे संघ की स्थापना करनी चाहिए कि जिसमें जैन जैनेतर, देशी विदेशी गृहस्थ त्यागी पंडित अध्यापक आदि सब आकृष्ट होकर सम्मिलित हो सकें और संघ द्वारा सोची गई आवश्यक साहित्यिक प्रवृत्तियों में अपने अपने स्थान में रहकर भी अपनी अपनी योग्यता व रुचि के अनुसार भाग ले सकें, निःसंदेह इस नये संघ की नींव कोई साम्प्रदायिक या पान्थिक न होगी। केवल जैन परम्परा से

५१—पंचाशक प्रकरण लघुवृत्ति अष्टादश पंचाशक पर्यंत (यशोभद्र सूरि)

५२—उपदेश पद प्रकरण लघु टीका (वर्धमान सूरि)

५३—उपदेश प्रकरण लघु टीका

५४ —दर्शनशुद्धि प्रकरण विवरण सह

५५—संवेग रंग शाला

५६—धर्म विधि प्रकरण

५७—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र गद्यवद्ध शांतिनाथ चरित्र पर्यंत

५८—नेमिनाह चरित्र अपभ्रंश

५९—अतिमुक्तक चरित्र

६०—अतिमुक्तक चरित्र आदि (पूर्णभद्र)

६१—अणुव्रत विधि

६२—तपोटमतकुट्टनशत आदि

६३—कातंत्र व्याकरण दुर्गसिंही वृत्ति दुर्गपद प्रवोध

६४—पंचग्रन्थी-वुद्धिसागर व्याकरण

६५—सिद्ध० शब्दा० लघुन्यास (दुर्गपद व्याख्या) चतुष्कावचूणि षष्टपाद पर्यंत

६६—सिद्ध० शब्दा० रहस्य वृत्ति (सिद्ध० शब्दा० लघुवृत्ति संक्षेप)

६७—अनेकार्थकोश अनेकार्थ कैरवाकर कौमुदी वृत्ति सह द्विस्वर कांड पर्यंत

६८—अनेकार्थकोश त्रिस्वरकांड द्वितीय खंड

६९—अनेकार्थकोश चतुःस्वर कांड का सम्पूर्ण ततीय खंड

७०—कल्पलता विवेक (कल्प पल्ल... शेष)

७१—काव्यादर्श (काव्यप्रकाश संकेत...

७२—काव्य प्रकाश संकेत

७३—काव्य प्रकाश

७४—अलंकार दर्पण

७५—निर्वाण लीलावती महाक... उद्धार (लीलावती सार)

७६—मुद्राराक्षस नाटक टिप्पणी स...

७७—प्रवोधचंद्रोदय नाटक टिप्पण... सह

७८—अनर्घराघव नाटक

७९—वेणीसंहार नाटक

८०—चन्द्रलेखा विजय प्रकरण नाट...

८१—सन्मति तर्क प्रकरण तत्त्ववोध विधायिन्याख्य वृत्ति सह

८२—न्यायावतारसूत्रवृत्ति टिप्पणी सह

८३—सर्व सिद्धान्त प्रवेश (षड्दर्शन समुच्चय जैसा)

८४—न्यायप्रवेश सूत्र आदि

८५—तत्त्व संग्रह पञ्जिका वृत्ति (कमल शील वृत्ति)

८६—तत्त्वसंग्रह मूल

८७—खंडनखंड खाद्य

८८—खंडनखंड खाद्य शिष्य हितैषिणी वृत्ति टिप्पण्यादि युक्त

८९—न्यायमंजरी ग्रंथिभंग

९०—गौतमीय न्यायसूत्र वृत्ति

९१—भाष्य वार्तिक विवरण पंजिका द्वितीय अध्याय तथा पंचम अध्याय पर्यंत

९२—इष्टसिद्धि वृत्ति सह सम्पूर्ण,
९३—सांख्यसप्ततिका वृत्तिसह,
९४—सांख्य सप्ततिका वृत्तिसह,
९५—सांख्य सप्ततिका आदि
९६—सांख्य सप्ततिका भाष्य आदि
९७—अर्थशास्त्र (चाणक्य)
९८—निशीथ सूत्रचूर्णी प्रथम खंड
९९—नंदी दुर्गपदवृत्ति
१००—उपदेशपद प्रकरण
१०१—प्रकरण पुस्तिका
१०२—सार्ध शतक प्रकरण वृत्तिसह
१०३—सप्ततिका कर्मग्रंथ टिप्पणक गाथाबद्ध
१०४—भगवद्गीता भाष्यसह
१०५—बृहत्संग्रहणी प्रकरण सटीक
१०६—महावीर चरित्र प्राकृत गाथा बद्ध
१०७—मुनिसुव्रत स्वामि चरित्र संस्कृत
१०८—पउम चरिउ प्राकृत गाथा
१०९—समराइच्च कहा—प्राकृत
११०—कुवलयमाला कथा
१११—विलासवई कहा—अपभ्रंश
११२—विलासवई कहा—अपभ्रंश
११३—पृथ्वीचन्द्र चरित्र
११४—सुखबोधा सामाचारी
११५—कातंत्र व्याकरण दुर्गसिंह वृत्ति विवरण पंजिका
११६—त्रिलोचन दास कृद्वृत्ति
११७—कातंत्रोत्तर विद्यानंदि वृत्ति पंचसंधिपर्यंत
११८—कातंत्रोत्तर विद्यानंदि वृत्ति द्वितीयपाद पर्यंतटिप्पण सह
११९—कातंत्रोत्तर विद्यानंदि वृत्ति कारक प्रकरण
१२०—कातंत्रोत्तर विद्यानंदि वृत्ति तद्धित प्रकरण पर्यंत
१२१—सिद्धहेम शब्दानुशासन लघु-वृत्ति पंचमाध्याय
१२२—स्याद्यंत प्रक्रिया
१२३—प्राकृत प्रकाश
१२४—जयदेव छंदः शास्त्र
१२५—जयदेव छंदः शास्त्र वृत्ति सह
१२६—कइसिट्ठ कृत छंदःशास्त्र वृत्ति
१२७—छंदोनुशासन
१२८—वृत्तरत्नाकर
१२९—काव्यप्रकाश टिप्पण सह
१३०—व्यक्तिविवेक काव्यालंकार
१३१—काव्यादर्श तृतीय परिच्छेद पर्यंत
१३२—उद्भटालंकार लघुवृत्ति
१३३—अभिधा वृत्ति मातृका
१३४—रुद्रटालंकार तृतीयाध्याय तथा पंचमाध्याय पर्यंत
१३५—वामनीय काव्यालंकार स्वोपज्ञ वृत्ति टिप्पणसह
१३६—कविरहस्य टीका
१३७—भट्टिकाव्य
१३८—नैषधचरित महाकाव्य
१३९—नैषधीय महाकाव्य साहित्यवि-द्याधरा टीका
१४०—नैषधीय महाकाव्य
१४१—वृंदावन काव्य सटीक
१४२—घटकर्पर काव्य सटीक
१४३—शिवभद्र काव्य सटीक

(६) आवश्यक सूत्र, चूर्णी, मलयगिरि कृत टीका, हरिभद्रकृत टीका मलधारिकृत टिप्पण
(७) बृहत्कल्प सूत्र—लघुभाष्य
(८) दश वैकालिक सूत्र, हरिभद्रवृत्ति,
(९) प्रज्ञापनोपांग सूत्र, मलयगिरि टीका, हरिभद्रकृत टीका
(१०) सूत्रकृतांगसूत्र टीका
(११) समवायांग सूत्र टीका
(१२) दशाश्रुतस्कंध चूर्णी
(१३) कल्पसूत्र टिप्पणक, चूर्णी, निर्युक्ति।
(१४) पंच कल्प महाभाष्य
(१५) प्रश्न व्याकरण सूत्र, टीका
(१६) उपासक दशांग सूत्र, टीका
(१७) अन्तकृद्दशा सूत्र, टीका
(१८) अनुत्तरौपपातिक सूत्र, टीका
(१९) विपाक सूत्र, टीका
(२०) भवभावना प्रकरण, स्वोपज्ञ सटीका
(२१) पंचाशक प्रकरण सटीक
(२२) धर्मबिन्दु प्रकरण सटीक
(२३) बृहत्संग्रहणी, मलयगिरिकृत टीका
(२४) बृहत्क्षेत्र समास प्रकरण
(२५) विभक्ति विचार
(२६) प्रवचनसारोद्धार सटीक
(२७) मुनिसुव्रत स्वामि चरित्र
(२८) समराइच्च कहा
(२९) धन्य शालिभद्र चरित्र
(३०) पउम चरियं
(३१) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र
(३२) पार्श्वनाथ चरित्र (देवभद्र)
(३३) सिद्धहेमशब्दानुशासन लघुवृत्ति
(३४) छन्दोग्रन्थ २ जयदेव आदि कृत
(३५) काव्य प्रकाश सटीक
(३६) अभिधा वृत्ति मातृका
(३७) अलंकार दर्पण
(३८) कविकल्पलता विवेक
(३९) गौडवध महाकाव्य (वाक्पति-राज) सटीक
(४०) वासवदत्ताख्यायिका
(४१) तत्त्वसंग्रह, पंजिका समेत
(४२) न्याय कन्दली, टिप्पणक
(४३) प्रशस्तपाद भाष्य
(४४) न्यायावतार वृत्ति, टिप्पणक
(४५) न्याय प्रवेश, वृत्ति, पंजिका
(४६) पंच प्रस्थान न्यायटीका
(४७) अनेकान्तजयपताका टिप्पणक
(४८) प्रमालक्ष्म
(४९) ,, धर्मोत्तर टिप्पणक

८—कुछ ग्रन्थों की नकल करवाई गई। ये ग्रन्थ या तो अपूर्व हैं या प्रति की दृष्टि से मूल के निकट हैं। वे ये हैं—

(१) प्रज्ञापना सूत्र
(२) ओघ निर्युक्ति महाभाष्य
(३) विशेषावश्यक महाभाष्य
(४) ज्योतिष्करंडक टीका पादलिप्तकृत
(५) दशवैकालिक चूर्णी—अगस्त्य सिंह
(६) पृथ्वीचन्द्र चरित्र (प्राकृत)
(७) सर्वसिद्धान्त प्रवेश
(८) प्रमाणान्तर्भाव (बौद्ध)
(९) सांख्य सप्ततिका (सटीक)
(१०) ,, (दूसरी टीका)

(११) कविकल्पलता पल्लव विशेष- विवेक
(१२) प्रकरण स्तोत्रादि संग्रह इसमें अनेक प्रकरण ग्रन्थ हैं।
(१३) नंदि चूर्णी
(१४) सन्मतितर्क (द्वितीय खण्ड)
(१५) मुनि सुव्रत चरित्र (प्राकृत)
(१६) अनुयोग द्वार सूत्र

इस वर्णन से यह ज्ञात हो जायगा कि केवल लिखित-मुद्रित ग्रन्थों में से वतरण लेकर उनके आधार से निबन्ध लिख देना इतना ही संशोधन का अर्थ हीं है। बल्कि प्रतियों की प्राचीनता का यथावत् मूल्यांकन करके तदनुसार ाठशुद्धि की व्यवस्था करना और उस उस विषय से सम्बद्ध सब बातों की वेषणा करना एवं संशोधन की आधारभूत प्राचीन सामग्री की खोज, उसकी रक्षा एवं सर्वोपयोगी सुलभता की दृष्टि से व्यवस्था इत्यादि बातों का भी समें समावेश होता है।

---

(२)

जिनका उल्लेख इस व्याख्यान में नहीं है ऐसे मुद्रित ग्रन्थ—

जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी द्वारा प्रकाशित—

१—गुजरात का जैन धर्म—मुनि श्री जिनविजय जी
२—जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार—श्री फतहचन्द्र बेलानी
3—Jainism—The Oldest Living Religion—J. P. Jain, M. A, LL. B.

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वारा प्रकाशित—

१—वर्द्धमान (महाकाव्य) महाकवि अनूप शर्मा
२—नाममाला (सभाष्य)—धनञ्जय कृत
३—कन्नड़ प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थ सूची—के० भुजबली शास्त्री
४—कुरल काव्य (तामिल लिपि में)—ए० चक्रवर्ती
५—केवल ज्ञान प्रश्न चूडामणि
६—जातकट्ठ कथा

श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला के प्रकाशन—

१—जैन तीर्थोनो इतिहास—स्व० मुनि श्री न्यायविजय जी
२—पट्टावली समुच्चय, भाग दूसरा—श्री दर्शनविजयजी
३—क्षत्रियकुंड—श्री दर्शनविजय जी

(३४)

श्री यशोविजय जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित—

१—पूर्व भारत जैनतीर्थ भूमिओ स्व० मुनि श्री जयन्तविजय जी

अन्य प्रकाशन—

१—योगदृष्टि समुच्चय (विवेचन)—विवेचक—डॉ० भगवान दास मेहता

२—द्वादशार नयचक्र, दो भाग सं० लब्धिसूरि

३—अपभ्रंश प्रकाश प्रो० देवेन्द्रकुमार M.A.,

४—महावीर स्मृति ग्रन्थ सं० श्री कामताप्रसाद जैन

५—तत्त्वसमुच्चय सं० प्रो० हीरालाल जैन

६—तरंगवती कथा

७—जैनागमों में स्याद्वाद—सं० उपाध्याय आत्माराम जी

शीघ्र ही प्रकाशित होने वाले सिंघी जैन ग्रन्थमाला के ग्रन्थ—

१—खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली

२—कुमारपाल चरित्र

३—विविध गच्छीय पट्टावली संग्रह

४—जैन पुस्तक प्रशस्ति भाग २

५—विज्ञप्ति संग्रह

६—गुणपालकृत जंबूचरित्र (प्राकृत)

७—जयपाहुड़

८—गुणचन्द्रकृत—मंत्री कर्मचन्द्र वंश प्रबंध

९—नयचन्द्र कृत हम्मीर महाकाव्य

१०—नर्मदा सुन्दरी कथा

११—काव्य प्रकाश, खंड १ (सिद्धिचन्द्र)

(३)

पत्र पत्रिका आदि में लेख—

Jain Antiquary Vol XV 1, 2

(1) The Jaina Critique of the Buddhist Theories of Pramāṇa

—Prof. H. M. Bhattacharya

(2) History of Mathematics in India
From Jaina Sources
—Dr. A. N. Singh

(Cont. Vol XVI)

Vol XVI. 1-2

(3) Three New Kushan Inscriptions
—Syt K. D. Bajpai

(4) Jaina temples, monks and nuns
in Poona —Syt S. B. Deo

(5) Authors of the Names of Pūjyapad
—J. P. Jain

Indian Historical Quarterly Sept. 1950

(1) Gleanings from the Kharatargaccha
Pattavali —Dasharath Sharma

(2) Dramaturgy found in the Mahapurāṇa
of Puṣpadanta

March 1951.

(3) Sources of Hemchandra's Apabhranśa
quatations —S. N. Ghosal

New Indian Antiquary (April-June 1947)

(1) Further Contribution to the History of
Jaina Cosmography and Mythology
—Dr. Z. Alsdorf

श्री विश्वबन्धु द्वारा संपादित 'सिद्ध भारती' में जैनधर्म और प्राकृत भाषा से संबद्ध अनेक लेख हैं। उनके लेखक हैं डॉ० एस० के चेटर्जी, डॉ० बनारसी दास जैन, डॉ० सुकुमार सेन, डॉ० उपाध्ये, श्री प्रभुदत्त शास्त्री, डॉ० मिराशी, डॉ० राघवन्।

एम्० एम्० पोद्दार स्मारक ग्रन्थ में डॉ० उपाध्ये का 'जैन और जैनधर्म' के विषय में एक लेख है।

श्री वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ में अनेक लेख जैनधर्म से संबंध रखते हैं।

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस।

जैन संस्कृति संशोधन मण्डल

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी

पत्रिका नं० २१

जैन दार्शनिक साहित्यका सिंहावलोकन

लेखक

श्री दलसुखभाई मालवणिया

जैनदर्शनाध्यापक, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

'सच्चं लोगम्मि सारभूयं'

'TRUTH ALONE MATTERS'

JAIN CULTURAL RESEARCH SOCIETY

PARSHVANATH VIDYASHRAMA

P. O. Benares Hindu University.

1949

Free to Members: For Non-Members—Annas Ten.

(१) आगमयुग ।

भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया, वह आज श्रुतरूप में जैन-आग
में सुरक्षित है। आचार्य भद्रबाहु ने श्रुत की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए
सुन्दर रूपक का उपयोग किया है[1]—"तप-नियम-ज्ञानरूप वृक्ष के ऊपर आर
होकर अनन्तज्ञानी केवली भगवान् भव्यजनों के हित के लिए ज्ञानकुसुम की
करते हैं। गणधर अपने बुद्धि-पट में उन सकल कुसुमों को झेलते हैं और प्रव
माला गूंथते हैं।" यही प्रवचन-माला आचार्य परम्परा से, कालक्रम से, हमें जै
भी टूटी फूटी अवस्था में प्राप्त हुई है, आज 'जैनागम' के नाम से प्रसिद्ध है

जैन आगमिक साहित्य, जो अंगोपांगादि भेदों में विभक्त है, उसका अन्ति
संस्करण वलभी में वीरनिर्वाण से ९८० वर्ष के बाद और मतान्तर से ९९३
के बाद हुआ। यही संस्करण आज उपलब्ध है। इसका मतलब यह नहीं
आगमों में जो कुछ बातें हैं वे प्राचीन समय की नहीं हैं। यत्र-तत्र थोड़ा ब
परिवर्तन और परिवर्धन है इस बात को मानते हुए भी शैली और विषय वर
के आधार पर कहा जा सकता है कि आगमों का अधिकांश ईस्वी सन् के
का है, इसमें सन्देह को कोई अवकाश नहीं।

जैनदार्शनिक साहित्य के विकास का मूलाधार—ये ही प्राकृत भाषा-निब
आगम रहे हैं। अतएव संक्षेप में इनका वर्गीकरण नीचे दिया जाता है—

१ अंग—

१—आचार, २—सूत्रकृत, ३—स्थान, ४—समवाय, ५—भगवती, ६—ज्ञातृध
कथा, ७—उपासकदशा, ८—अन्तकृद्दशा, ९—अनुत्तरौपपातिकदशा, १०—प्रश
व्याकरण, ११—विपाक, १२—दृष्टिवाद (लुप्त है)।

२ उपांग—

१—औपपातिक, २—राजप्रश्नीय, ३—जीवाभिगम, ४—प्रज्ञापना, ५—सूर्यप्रज्ञप्ति
६—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ७—चन्द्रप्रज्ञप्ति, ८—कल्पिका, ९—कल्पावतंसिका, १०—पुष्पिका
११—पुष्पचूलिका, १२—वृष्णिदशा।

---

१ "तवनियमनाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजणविबोहणट्ठाए॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निरवसेसं।
तित्थयरभासियाइं गथंति तओ पवयणट्ठा॥"
आवश्यक निर्युक्ति ८९, ९०।

३ मूल—

१—आवश्यक, २—दशवैकालिक, ३—उत्तराध्ययन, ४—पिण्डनिर्युक्ति, (किसी के मत से ४—ओघनिर्युक्ति)।

४ चूलिकासूत्र—

१ नन्दीसूत्र।

२ अनुयोगद्वारसूत्र।

५ छेदसूत्र—

१—निशीथ, २—महानिशीथ, ३—बृहत्कल्प, ४—व्यवहार, ५—दशाश्रुतस्कन्ध, ६—पञ्चकल्प।

६ प्रकीर्णक—

१—चतुःशरण, २—आतुरप्रत्याख्यान, ३—भक्तपरिज्ञा, ४—संस्तारक, ५—तन्दुलवैचारिक, ६—चन्द्रवेध्यक, ७—देवेन्द्रस्तव, ८—गणिविद्या, ९—महाप्रत्याख्यान, १०—वीरस्तव।

इन सूत्रोंमें से कुछ तो ऐसे हैं, जिनके कर्त्ता का नाम भी उपलब्ध होता है जैसे—दशवैकालिक शय्यंभवकृत है, प्रज्ञापना श्यामाचार्य कृत है। दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार के कर्त्ता भद्रबाहु हैं।

इन सभी सूत्रों का सम्बन्ध दर्शन से नहीं है। कुछ तो ऐसे हैं, जो जैन आचार के साथ सम्बन्ध रखते हैं जैसे—आचाराङ्ग, दशवैकालिक आदि। कुछ उपदेशात्मक हैं जैसे—उत्तराध्ययन, प्रकीर्णक आदि। कुछ तत्कालीन भूगोल और खगोल आदि सम्बन्धी मान्यताओं का वर्णन करते हैं, जैसे—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति आदि। छेदसूत्रों का प्रधान विषय जैन साधुओं के आचार सम्बन्धी औत्सर्गिक और आपवादिक नियमों का वर्णन व प्रायश्चितों का विधान करना है। कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमें जिनमार्ग के अनुयायिओं का चरित्र दिया गया है जैसे—उपासकदशा, अनुत्तरौपपातिकदशा आदि, कुछ में कल्पित कथाएँ देकर उपदेश दिया गया है, जैसे ज्ञातृधर्मकथा आदि। विपाक में शुभ और अशुभ कर्म का विपाक कथाओं द्वारा बताया गया है। भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर के साथ हुए संवादों का संग्रह है। बौद्ध सुत्तपिटक की तरह नाना विषय के प्रश्नोत्तर भगवती में संगृहीत हैं।

दर्शन के साथ सम्बन्ध रखने वालों में खासकर सूत्रकृत, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, भगवती, नन्दी, स्थानांग, समवाय और अनुयोग मुख्य हैं।

सूत्रकृत में तत्कालीन मन्तव्यों का निराकरण करके स्वमत की प्ररूपणा की गई है। भूतवादियों का निराकरण करके आत्मा का पृथग्-अस्तित्व बताया है। ब्रह्मवाद के स्थान में नानात्मवाद स्थिर किया है। जीव और शरीर को पृथक् बताया है। कर्म और उसके फल की सत्ता स्थिर की है। जगदुत्पत्ति के विषय में नानावादों का निराकरण करके विश्व को किसी ईश्वर या ऐसी ही किसी व्यक्ति ने नहीं बनाया, वह तो अनादि अनन्त है, इस बात की स्थापना की गई है। तत्कालीन क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद का निराकरण करके सुसंस्कृत क्रियावाद की स्थापना की गई है।

प्रज्ञापना में जीव के विविध भावों को लेकर विस्तार से विचार किया गया है।

राजप्रश्नीय में पार्श्वनाथ की परम्परा में हुए केशी श्रमण ने श्रावस्ती के राजा पएसी के प्रश्नों के उत्तर में नास्तिकवाद का निराकरण करके आत्मा और तत्सम्बन्धी अनेक बातों को दृष्टांत और युक्तिपूर्वक समझाया है।

भगवतीसूत्र के अनेक प्रश्नोत्तरों में नय, प्रमाण, सप्तभङ्गी, अनेकान्तवाद आदि अनेक दार्शनिक विचार बिखरे पड़े हैं।

नन्दी जैनदृष्टि से ज्ञान के स्वरूप और भेदों का विश्लेषण करने वाली एक सुन्दर कृति है।

स्थानांग और समवायांग की रचना बौद्धों के अंगुत्तर निकाय के ढंग की है। इन दोनों में भी आत्मा, पुद्गल, ज्ञान, नय, प्रमाण आदि विषयों की चर्चा आई है। भगवान् महावीर के शासन में हुए निह्नवों का वर्णन स्थानांग में है। ऐसे सात व्यक्ति बताए गए हैं जिन्होंने कालक्रम से भगवान् महावीर के सिद्धान्तों की भिन्न भिन्न बात को लेकर अपना मतभेद प्रकट किया है। ये ही निह्नव कहे गए हैं।

अनुयोग में शब्दार्थ करने की प्रक्रिया का वर्णन मुख्य है, किन्तु प्रसंग से उसमें प्रमाण और नय का तथा तत्त्वों का निरूपण भी अच्छे ढंग से हुआ है।

आगमों की टीकाएँ—

इन आगमों की टीकाएँ प्राकृत और संस्कृत में हुई हैं। प्राकृत टीकाएँ निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि के नाम से लिखी गई हैं। निर्युक्ति और भाष्य पद्यमय हैं और चूर्णि गद्य में। उपलब्ध निर्युक्तियाँ भद्रबाहु द्वितीय की रचना हैं। उनका

समय विक्रम पाँचवीं या छठी शताब्दी है। निर्युक्तियों में भद्रबाहु ने कई प्रसंगों में दार्शनिक चर्चाएँ बड़े सुन्दर ढङ्ग से की हैं। खास कर बौद्धों तथा चार्वाकों के विषय में निर्युक्ति में जहाँ कहीं अवसर मिला, उन्होंने अवश्य लिखा है। आत्मा का अस्तित्व उन्होंने सिद्ध किया है। ज्ञान का सूक्ष्म निरूपण तथा अहिंसा का तात्त्विक विवेचन किया है। शब्द के अर्थ करने की पद्धति के तो वे निष्णात थे ही। प्रमाण, नय और निक्षेप के विषय में लिखकर भद्रबाहु ने जैन दर्शन की भूमिका पक्की की है।

किसी भी विषय की चर्चा का अपने समय तक का पूर्णरूप देखना हो तो भाष्य देखना चाहिए। भाष्यकारों में प्रसिद्ध संघदासगणि और जिनभद्र हैं। इनका समय सातवीं शताब्दी है। जिनभद्र ने विशेषावश्यक भाष्य में आगमिक पदार्थों का तर्क संगत विवेचन किया है। प्रमाण, नय, निक्षेप की सम्पूर्ण चर्चा तो उन्होंने की ही है, इसके अलावा तत्त्वों का भी तात्त्विक युक्तिसंगत विवेचन भी किया है। ऐसा कहा जा सकता है कि दार्शनिक चर्चा का कोई ऐसा विषय नहीं रहा, जिन पर जिनभद्र ने अपनी कलम न चलाई हो। बृहत्कल्प-भाष्य में संघदास गणी ने साधुओं के आहार-विहार आदि नियमों के उत्सर्ग-अपवाद मार्ग की चर्चा दार्शनिक ढंग से की है। इन्होंने भी प्रसंग से प्रमाण, नय और निक्षेप के विषय में लिखा है।

करीब सातवीं-आठवीं शताब्दी की चूर्णियाँ मिलती हैं। चूर्णिकारों में जिनदास महत्तर प्रसिद्ध हैं। इन्होंने नन्दी की चूर्णी के अलावा और भी चूर्णियाँ लिखी हैं। चूर्णियों में भाष्य के ही विषय को संक्षेप से गद्य में लिखा गया है। जातक के ढंग की प्राकृत कथाएँ इनकी विशेषता है।

जैन आगमों की सबसे प्राचीन संस्कृत टीका आ० हरिभद्र ने की है। उनका समय वि० ७५७ से ८५७ के बीच का है। हरिभद्र ने प्राकृत चूर्णियों का प्रायः संस्कृत में अनुवाद ही किया है और यत्र-तत्र अपने दार्शनिक ज्ञान का उपयोग करना भी उन्होंने उचित समझा है। इसीलिए हम उनकी टीकाओं में सभी दर्शनों की पूर्व-पक्षरूप से चर्चा पाते हैं। इतना ही नहीं किन्तु जैन-तत्त्व को भी दार्शनिक ज्ञान के बल से सुनिश्चित रूप में स्थिर करने का प्रयत्न देखते हैं।

हरिभद्र के बाद शीलांकसूरि ने (दशवीं शताब्दी) संस्कृत टीकाओं की रचना की। शीलांक के बाद प्रसिद्ध टीकाकार शान्त्याचार्य हुए। उन्होंने उत्तराध्ययन की बृहत् टीका लिखी है। इसके बाद प्रसिद्ध टीकाकार अभयदेव

हुए, जिन्होंने नव अङ्गों पर संस्कृत में टीकाएँ रचीं। उनका जन्म १०७२ और स्वर्गवास विक्रम ११३५ में हुआ है। इन दोनों टीकाकारों ने पूर्व टीकाओं का पूरा उपयोग तो किया ही है पर साथ ही अपनी ओर से नई दार्शनिक चर्चा भी की है।

यहाँ पर ऐसे ही टीकाकार मलधारी हेमचन्द्र का नाम उल्लेख योग्य है। वे बारहवीं शताब्दी के विद्वान थे। किन्तु आगमों की संस्कृत टीका करने वालों में सर्वश्रेष्ठ स्थान मलयगिरि का ही है। प्रांजल भाषा में दार्शनिक चर्चा से प्रचुर टीकाएँ यदि देखना हो तो मलयगिरि की टीकाएँ देखना चाहिए। उनकी टीका पढ़ने में शुद्ध दार्शनिक ग्रन्थ के पढ़ने का आनन्द आता है। जैन शास्त्र के कर्म आचार, भूगोल-खगोल आदि सभी विषयों में उनकी कलम धाराप्रवाह से चलती है और विषय को इतना स्पष्ट करके रख देती है कि फिर उस विषय में दूसरा कुछ देखने की अपेक्षा नहीं रहती। जैसे वाचस्पति मिश्र ने जो भी दर्शन लिया तन्मय होकर उसे लिखा, उसी प्रकार मलयगिरि ने भी किया है। वे आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे। अतएव उन्हें बारहवीं शताब्दी का विद्वान् समझना चाहिए।

संस्कृत–प्राकृत टीकाओं का परिमाण इतना बड़ा था और विषयों की चर्चा इतनी गहन–गहनतर हो गई थी कि बाद में यह आवश्यक समझा गया कि आगमों की शब्दार्थ बताने वाली संक्षिप्त टीकाएँ की जायँ। समय की गति ने संस्कृत और प्राकृत भाषाओं को बोलचाल की भाषा से हटाकर मात्र साहित्यिक भाषा बना दिया था। तब तत्कालीन अपभ्रंश अर्थात् प्राचीन गुजराती भाषा में बालावबोधों की रचना हुई। इन्हें 'टबा' कहते हैं। ऐसे बालावबोधों की रचना करने वाले कई हुए हैं, किन्तु १८ वीं सदी में हुए लोंकागच्छ के आ० धर्मसिंह मुनि विशेष रूपसे उल्लेख योग्य हैं। क्योंकि इनकी दृष्टि प्राचीन टीकाओं के अर्थ को छोड़कर कहीं–कहीं स्वसंप्रदाय-संमत अर्थ करने की रही है। इनका संप्रदाय मूर्तिपूजा के विरोध में उत्थित हुआ था।

दिगम्बर आगम–

उपर्युक्त आगम और उसकी टीकाएँ श्वेताम्बर सम्प्रदाय को ही मान्य हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय अंगादि प्राचीन आगमों को लुप्त ही मानता है, किन्तु उनके आधार से और खासकर दृष्टिवाद के आधार से आचार्यों द्वारा ग्रथित कुछ ग्रंथों को आगम रूप से वह स्वीकार करता है। ऐसे आगम ग्रन्थों में षट्खंडागम, कषायपाहुड़ और महाबन्ध हैं। इन तीनों का विषय जीव और कर्म से विशेष

सम्बन्ध रखता है। दार्शनिक खंडन मंडन मूल में नहीं, किन्तु बाद में होनेवाली उनकी बड़ी-बड़ी टीकाओं में विशेषतया पाया जाता है।

षट्खंडागम की रचना पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यों द्वारा और कषाय-पाहुड़ मूल की रचना आचार्य गुणधर द्वारा विक्रम की दूसरी शताब्दी के बाद हुई है और उनपर बृहत्काय टीका धवला-जयधवला की रचना वीरसेनाचार्य ने विक्रम की नवमी शताब्दी में की है।

महाबन्ध या महाधवल की रचना भूतबलि आचार्य ने की है।

दिगम्बर आम्नाय में कुन्दकुन्दाचार्य नाम के महान् प्रभावक आचार्य हुए हैं। उनका समय अभी विद्वानों में विवाद का विषय है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने अनेक प्रमाणों से उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी निश्चित किया है। मुनि श्री कल्याणविजयजी उन्हें पांचवीं-छठीं शताब्दी से पूर्व नहीं मानते। उनके ग्रन्थ दिगम्बर संप्रदाय में आगम के समान ही प्रमाणित माने जाते हैं। प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, समयसार, अष्टपाहुड, नियमसार आदि उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। उन्होंने आत्मा का नैश्चयिक और व्यावहारिक दृष्टि से सुविवेचन किया है। सप्तभङ्गी का निरूपण भी उन्होंने किया है। उनके ग्रंथों पर अमृतचन्द्र आदि प्रसिद्ध विद्वानों ने संस्कृत में तथा अन्य विद्वानों ने हिन्दी में व्याख्याएँ की हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र और उसकी टीकाएँ—

आगमों में जैन प्रमेयों का वर्णन विप्रकीर्ण था। अतएव जैन तत्त्वज्ञान, आचार, भूगोल, खगोल, जीवविद्या, पदार्थविज्ञान इत्यादि नाना प्रकार के विषयों का संक्षेप में निरूपण करने वाले एक ग्रन्थ की आवश्यकता की पूर्ति आचार्य उमास्वाति ने की। उनका समय अभी अनिश्चित है, किन्तु उन्हें तीसरी चौथी शताब्दी का विद्वान माना जा सकता है। अपने सम्प्रदाय के विषय में भी उन्होंने कुछ निर्देश नहीं किया, किन्तु श्री नाथूरामजी प्रेमी ने एक लेख लिख कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वे यापनीय थे। उनका यापनीय होना युक्तिसंगत मालूम देता है। उनका 'तत्त्वार्थिगमसूत्र' श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय में मान्य हुआ है। इतना ही नहीं, बल्कि जब से वह बना है तब से अभी तक उसका आदर और महत्त्व दोनों संप्रदायों में बराबर बना रहा है। यही कारण है, कि छठी शताब्दी के दिगम्बराचार्य पूज्यपाद ने उस पर 'सर्वार्थसिद्धि' नामक टीका की रचना की। आठवीं-नवीं शताब्दी में तो इसकी

टीका की होड़-सी लगी है। अकलङ्क और विद्यानन्द ने क्रमशः 'राजवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' की रचना की। सिद्धसेन और हरिभद्र ने क्रमशः बृहत्काय और लघुकाय वृत्तियों की रचना की। पूर्वोक्त दो दिगम्बर हैं और अंतिम दोनों श्वेताम्बर हैं। ये पांचों कृतियाँ दार्शनिक ही हैं। जैन-दर्शन सम्मत प्रत्येक प्रमेय का निरूपण अन्य दर्शन के उस-उस विषयक मन्तव्य का निराकरण करके ही किया गया है। यदि हम कहें कि अधिकांश जैन-दार्शनिक साहित्य का विकास और वृद्धि एक तत्त्वार्थ को केन्द्र में रखकर ही हुआ है तो अत्युक्ति नहीं होगी। दिग्नाग के प्रमाणसमुच्चय के ऊपर धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक लिखा और जिस प्रकार उसीको केन्द्र में रखकर समग्र बौद्ध-दर्शन विकसित और वृद्धिंगत हुआ उसी प्रकार तत्त्वार्थ के आस पास जैन-दार्शनिक साहित्य का विकास और वृद्धि हुई है। बारहवीं शताब्दी में मलयगिरि ने और चौदहवीं शताब्दी में किसी चिरन्तन मुनि ने भी टीकाएँ बनाईं। आखिर में अठारहवीं शताब्दी में यशो विजयजी ने भी अपनी नव्य परिभाषा में इसकी टीका करना उचित समझा और इस प्रकार पूर्व की सत्रहवीं शताब्दी तक के दार्शनिक विकास का भी अंतर्भाव इसमें हुआ। एक दूसरे यशोविजयगणि ने प्राचीन गुजराती में इसका बालाव बोध बनाकर इस कृति को भाषा की दृष्टि से आधुनिक भी बना दिया। ये सभी श्वेताम्बर थे। दिगम्बरों में भी श्रुतसागर (सोलहवीं शताब्दी), विबुधसेन योगीन्द्रदेव, योगदेव, लक्ष्मीदेव, अभयनन्दी सूरि आदि ने भी संस्कृत में टीकाएँ बनाई हैं। और कुछ दिगम्बर विद्वानों ने प्राचीन हिन्दी में लिखकर उसे आधुनिक बना दिया है।

अभी-अभी बीसवीं सताब्दी में भी उसी तत्त्वार्थ का अनुवाद कई विद्वानों ने किया है और विवेचन भी हिन्दी तथा गुजराती[1] आदि प्रांतीय भाषाओं में हुआ है। सर्वश्रेष्ठ विवेचन पं० सुखलाल जी का है।

ऐसी महत्वपूर्ण कृति का संक्षेप में विषयनिर्देश करना आवश्यक है।

ज्ञान मीमांसा—

''पहले' अध्याय में ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली मुख्य आठ बातें हैं जो कि इस प्रकार हैं:—१—नय और प्रमाण रूप से ज्ञान का विभाग। २—मति आदि आगम प्रसिद्ध पाँच ज्ञान और उनका प्रत्यक्ष—परोक्षरूप दो प्रमाणों में विभाजन। ३—मति-ज्ञान की उत्पत्ति के साधन, उनके भेद—प्रभेद और उसकी

---

१. देखो पं० सुखलाल जी कृत 'विवेचन' की प्रस्तावना पृ० ६७।

उत्पत्ति के क्रमसूचक प्रकार। ४–जैन परम्परा में प्रमाण माने जाने वाले आगम शास्त्र का श्रुतज्ञान रूप से वर्णन। ५–अवधि आदि तीन अलौकिक प्रत्यक्ष और उनके भेद-प्रभेद तथा पारस्परिक अन्तर। ६–इन पाँचो ज्ञानों का तारतम्य बतलाते हुए उनका विषय निर्देश और उनकी एक साथ सम्भवनीयता। ७–कितने ज्ञान भ्रमात्मक भी हो सकते हैं यह और ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता के कारण। ८–नय के भेद–प्रभेद।

ज्ञेय मीमांसा–

ज्ञेयमीमांसा में मुख्य सोलह बातें आती हैं जो इस प्रकार हैं–दूसरे अध्याय में–१–जीवतत्त्व का स्वरूप। २–संसारी जीव का भेद। ३–इन्द्रिय के भेद-प्रभेद, उनके नाम, उनके विषय और जीवराशि में इन्द्रियों का विभाजन। ४–मृत्यु और जन्म की स्थिति। ५–जन्मों के और उनके स्थानों के भेद तथा उनका जाति की दृष्टि से विभाग। ६–शरीर के भेद, उनके तारतम्य, उनके स्वामी और एक साथ उनका सम्भव। ७–जातियों का लिंगविभाग और न टूट सके ऐसे आयुष्य का भोगने वालों का निर्देश। तीसरे और चौथे अध्याय में ८–अधोलोक के विभाग, उसमें बसने वाले नारक जीव और उनकी दशा तथा जीवनमर्यादा वगैरह। ९–द्वीप, समुद्र, पर्वत, क्षेत्र आदि द्वारा मध्यलोक का भौगोलिक वर्णन, तथा उसमें बसने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का जीवन, काल। १०–देवों की विविध जातियाँ, उनके परिवार, भोग, स्थान, समृद्धि, जीवनकाल और ज्योतिर्मंडल द्वारा खगोल का वर्णन। पाँचवें अध्याय में ११–द्रव्य के भेद, उनका परस्पर साधर्म्य–वैधर्म्य; उनका स्थितिक्षेत्र और प्रत्येक का कार्य। १२–पुद्गल का स्वरूप, उसके भेद और उसकी उत्पत्ति के कारण १३–सत् और नित्य का सहेतुक स्वरूप। १४–पौद्गलिकबन्ध की योग्यता और अयोग्यता। १५–द्रव्य सामान्य का लक्षण, काल को द्रव्य मानने वाला मतान्तर और उसकी दृष्टि से काल का स्वरूप। १६–गुण और परिणाम के लक्षण और परिणाम के भेद।

चारित्र मीमांसा–

चारित्र मीमांसा की मुख्य ११ बातें हैं–छठे अध्याय में–१–आस्रव का स्वरूप, उसके भेद और किस-किस आस्रवसेवन से कौन-कौन कर्म बँधते हैं उनका वर्णन है। सातवें अध्याय में २–व्रत का स्वरूप, व्रत लेने वाले अधिकारियों के भेद और व्रत की स्थिरता के मार्ग। ३–हिंसा आदि दोषों का स्वरूप। ४–

व्रत में सम्भवित दोष। ५–दान का स्वरूप और उसके तारतम्य के हेतु आठवें अध्याय में ६–कर्मबन्धन के मूलहेतु और कर्मबन्धन के भेद। नव अध्याय में–७–संवर और उसके विविध उपाय तथा उसके भेद–प्रभेद। ८ निर्जरा और उसके उपाय। ९–जुदे-जुदे अधिकार वाले साधक और उनव मर्यादा का तारतम्य। दसवें अध्याय में १०–केवल ज्ञान के हेतु और मोक्ष क स्वरूप। ११–मुक्ति प्राप्त करने वाले आत्मा की किस रीति से कहाँ गति होत है उसका वर्णन।

इस संक्षिप्त सूची से यह पता लग जायगा कि तत्कालीन ज्ञानविज्ञान व एक भी शाखा अछूती नहीं रही हैं। तत्त्वविद्या, आध्यात्मिक विद्या, तर्कशास्त्र, मानसशास्त्र, भूगोल-खगोल, भौतिक विज्ञान, भूस्तरविद्या, जीवविद्या आदि सभी के विषय में उमास्वाति ने तत्कालीन जैन मन्तव्य का संग्रह किया है। यही कारण है कि टीककारों ने अपनी दार्शनिक विचार धारा को बहाने के लिए इसी ग्रन्थ को चुना है और फलतः यह एक जैन दर्शन का अमूल्य रत्न सिद्ध हुआ है।

इस प्रकार की ज्ञानविज्ञान की सभी शाखाओं को लेकर तत्त्वार्थ और उसकी टीकाओं में विवेचन होने से किसी एक दार्शनिक मुद्दे पर संक्षेप में चर्चा का होना उसमें अनिवार्य है अतएव जैनदर्शन के मौलिक सिद्धान्त अनेकान्तवाद और उसीसे सम्बन्ध रखने वाले प्रमाण और नय का स्वतन्त्र विस्तृत विवेचन उसमें सम्भव न होने से जैन आचार्यों ने इन विषयों पर स्वतन्त्र प्रकरण ग्रन्थ भी लिखने शुरू किए।

(२) अनेकान्त स्थापनयुग।

सिद्धसेन और समन्तभद्र–

दार्शनिक क्षेत्र में जब से नागार्जुन ने पदार्पण किया है तब से सभी भारतीय दर्शनों में नव जागरण हुआ है। सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने दर्शन को तर्क के बल से सुसंगत करने का प्रयत्न किया है। जो बातें केवल मान्यता की थी उनका भी स्थिरीकरण युक्तियों के बल से होने लगा। पारस्परिक मतभेदों का खंडन-मंडन जब होता है तब सिद्धान्तों और युक्तियों का आदान-प्रदान होना भी स्वाभाविक है। फल यही हुआ कि दार्शनिक प्रवाह इस संघर्ष में पड़ कर पुष्ट हुआ। प्रारम्भ में तो जैनाचार्यों ने तटस्थ रूप से इस संघर्ष को देखा

ही है किन्तु परिस्थिति ने जब उन्हें बाधित किया, जब अपने अस्तित्व का ही खतरा उपस्थित हुआ, तब समय की पुकार ने ही सिद्धसेन और समन्तभद्र जैसे प्रमुख तार्किकों को उपस्थित किया। इनका समय करीब पाँचवीं-छठी शताब्दी का है। सिद्धसेन श्वेताम्बर और समन्तभद्र दिगम्बर थे।

जैन धर्म के अन्तिम प्रवर्तक भगवान् महावीर ने नयों का उपदेश तो दिया ही था। किसी भी तत्त्व का निरूपण करने के लिए किसी एक दृष्टि से ही नहीं, किन्तु शक्य सभी नय-दृष्टिबिन्दुओं से उसका विचार करना सिखाया था। उन्होंने कई प्रसंगों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-इन चार दृष्टियों से तत्त्व का विचार समकालीन दार्शनिक मतवादियों के सामने उपस्थित किया था। इस प्रकार अनेकान्तवाद-स्याद्वाद की नींव उन्होंने डाल ही दी थी। किन्तु जब तक नागार्जुन के द्वारा सभी दार्शनिकों के सामने अपने-अपने सिद्धान्त की सिद्धि तर्क के बल से करने के लिए आवाज नहीं उठी थी, जैन दार्शनिक भी सोये हुए थे। सभी दार्शनिकों ने जब अपने-अपने सिद्धान्तों को पुष्ट कर लिया तब जैनदार्शनिक जागे। वस्तुतः यही समय उनके लिए उपयुक्त भी था, क्योंकि सभी दार्शनिक अपने-अपने सिद्धान्त की सत्यता और दूसरे के सिद्धान्त की असत्यता स्थापित करने पर तुले हुए होने से किंवा अभिनिवेश के कारण दूसरे के सिद्धान्त की खूबियाँ और अपनी कमजोरियाँ देख नहीं सकते थे। उन सभी की समालोचना करने वाले की अत्यन्त आवश्यकता ऐसे ही समय में हो सकती है। यही कार्य जैन-दार्शनिकों ने किया।

शून्यवादियों ने कहा था कि तत्त्व न सत् है, न असत्, न उभयरूप है, न अनुभयरूप; अर्थात् वस्तु में कोई विशेषण देकर उसका निर्वचन किया नहीं जा सकता। इसके विरुद्ध सांख्यों ने और प्राचीन औपनिषदिक दार्शनिकों ने सब को सत् रूप ही स्थिर किया। नैयायिक-वैशेषिकों ने कुछ को सत् और कुछ को असत् ही सिद्ध किया। विज्ञानवादी बौद्धों ने तत्त्व को विज्ञानात्मक ही कहा और बाह्यार्थ का अपलाप किया। इसके विरुद्ध नैयायिक-वैशेषिकों ने और मीमांसकों ने विज्ञानव्यतिरिक्त बाह्यार्थ को भी सिद्ध किया। बौद्धों ने सभी तत्त्वों को क्षणिक ही सिद्ध किया तब मीमांसकों ने शब्द और ऐसे ही दूसरे अनेक पदार्थों को अक्षणिक सिद्ध किया। नैयायिकों ने शब्दादि जैसे किन्हीं को तो क्षणिक और आकाश-आत्मादि जैसे किन्हीं को अक्षणिक सिद्ध किया। बौद्धों ने और मीमांसकों ने ईश्वरकर्तृत्व का निषेध किया और नैयायिकों ने ईश्वरकर्तृत्व सिद्ध किया। मीमांसकभिन्न सभी ने वेद के अपौरुषेयत्व का विरोध किया, तब मीमांसक

ने उसी का समर्थन किया। इस प्रकार इस संघर्ष के परिणामस्वरूप नाना प्रकार के वादविवाद दार्शनिक क्षेत्र में उपस्थित थे। इन सभी वादों को जैन-दार्शनिकों ने तटस्थ होकर देखा और फिर अपनी समालोचना शुरू की। उनके पास भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट नयवाद और द्रव्यादि चार दृष्टियाँ थीं ही। उनके प्रकाश में जब उन्होंने ये वाद देखे तब उन्होंने अपने अनेकान्तवाद-स्याद्वाद की स्थापना का अच्छा मौका देखा।

सिद्धसेन ने सन्मतितर्क में नयवाद का विवेचन किया है, क्योंकि अनेकान्तवाद का मूलाधार नयवाद ही है। उनका कहना है कि सभी नयों का समावेश—दो मूलनयों में—द्रव्यार्थिक और पर्यार्थिक में हो जाता है। दृष्टि यदि द्रव्य, अभेद, सामान्य, एकत्व की ओर होती है तो सर्वत्र अभेद दिखाई देता है और यदि पर्याय, भेद, विशेष, अनेकत्वगामी होती है तो सर्वत्र भेद ही भेद नजर आता है। तत्त्वदर्शन किसी भी प्रकार का क्यों न हो वह आखिर में जाकर इन दो दृष्टियों में से किसी एक में ही सम्मिलित हो जायगा। या तो वह द्रव्यार्थिक दृष्टि से होगा, या पर्यायार्थिक दृष्टि से। अनेकान्तवाद इन दोनों दृष्टियों के समन्वय में है न कि विरोध में। सिद्धसेन का कहना है कि दार्शनिकों में परस्पर विरोध इसलिए है कि या तो वे द्रव्यार्थिक दृष्टि को ही सच मान कर चलते हैं या पर्यायार्थिक दृष्टि को ही। किन्तु यदि वे अपनी दृष्टि का राग छोड़ कर दूसरे की दृष्टि का विरोध न करके उस ओर उपेक्षाभाव धारण करें तब अपनी दृष्टि में स्थिर रह कर भी उनका दर्शन सम्यग्-दर्शन है, चाहे वह पूर्ण न भी हो। पूर्ण सम्यग्दर्शन तो सभी उपयुक्त दृष्टियों के स्वीकार से हो हो सकता है। किन्तु सभी दार्शनिक अपना दृष्टिराग छोड़ नहीं सकते। अतएव वे मिथ्या हैं और इन्हीं की बात को लेकर चलने वाला अनेकान्तवाद मिथ्या न होकर सम्यग् हो जाता है। क्योंकि अनेकान्तवाद सर्वदर्शनों का जो तथ्यांश है, जो अंश युक्तिसिद्ध है उसे स्वीकार करता है और तत्त्व के पूर्ण दर्शन में उस अंशको भी यथास्थान संनिविष्ट करता है। सिद्धसेन का तो यहाँ तक कहना है कि किसी एक दृष्टि की मुख्यता यदि मानी जाय तो सर्वदर्शनों का प्रयोजन जो मोक्ष है वह नहीं घट सकेगा। अतएव दार्शनिकों को अपनी प्रयोजन की सिद्धि के लिए भी अनेकान्तवाद का आश्रयण करना चाहिए और दृष्टि मोह से दूर रहना चाहिए। महामूल्यवान् मुक्तामणियों को भी जब तक किसी एक सूत्र में बाँधा न जाय तब तक गले का हार नहीं बन सकता है। उनमें समन्वय की कमी है। अतएव उनका खास उपयोग भी नहीं। किन्तु वे ही मणियाँ जब सूत्रबद्ध हो

जाती हैं, उनमें समन्वय हो जाता है तब उनका पार्थक्य होते हुए भी एक उपयुक्त चीज़ बन जाती है। इसी दृष्टान्त के बल से सिद्धसेन ने सभी दार्शनिकों को अपनी-अपनी दृष्टि में समन्वय की भावना रखने का आदेश दिया है। और कहा है कि यदि ऐसा समन्वय हो तभी दर्शन सम्यग्-दर्शन कहा जा सकता है अन्यथा नहीं।

कार्यकारण के भेदाभेद को लेकर दार्शनिकों में नाना विवाद चलते थे। कार्य और कारण का एकान्त भेद ही है, ऐसा न्याय–वैशेषिक मत है। सांख्य का मत है कि कार्य कारणरूप ही है। अद्वैतवादियों का मत है कि संसार में दृश्यमान कार्यकारणभाव मिथ्या है, किन्तु एक द्रव्य-अद्वैत ब्रह्म ही सत् है। इन सभी वादियों को सिद्धसेन ने एक ही बात कही है कि यदि वे परस्पर समन्वय न स्थापित कर सकें तो उनका वाद मिथ्या ही होगा। वस्तुतः अभेदगामी दृष्टि से विचार करने पर कार्य-कारण में अभेद है, और भेदगामी दृष्टि से देखने पर भेद है, अतएव एकान्त को परित्याग करके कार्य-कारण में भेदाभेद मानना चाहिए।

भगवान् महावीर ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से किसी वस्तु पर विचार करना सिखाया था, यह कहा जा चुका है। इसी को मूलाधार बना कर किसी भी वस्तु में स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से सत् और परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से असत् इत्यादि सप्तभंगों की योजना रूप स्याद्वाद का प्रतिपादन भी सिद्धसेन ने विशदरूप से किया है। सदसत् की सप्तभंगी की तरह एकानेक, नित्यानित्य, भेदाभेद इत्यादि दार्शनिकवादों के विषय में भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि को मूलाधार बनाकर स्याद्वाद दृष्टि का प्रयोग करने का सिद्धसेन ने सूचन किया है।

बौद्धों ने वस्तु को विशेषरूप ही माना, अद्वैतवादियों ने सामान्यरूप ही माना और वैशेषिकों ने सामान्य और विशेष को स्वतंत्र और आधारभूत वस्तु से अत्यन्त भिन्न ही माना। दार्शनिकों के इस विवाद को भी सिद्धसेन ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक का झगड़ा ही कहा और वस्तु–तत्त्व को सामान्य-विशेषात्मक सिद्ध करके समन्वय किया।

बौद्ध ने वस्तु को गुण रूप ही माना, गुणभिन्न कोई द्रव्य माना ही नहीं। नैयायिकों ने द्रव्य और गुण का भेद ही माना। तब सिद्धसेन ने कहा कि एक ही वस्तु सम्बन्ध के भेद से नाना रूप धारण करती है अर्थात् जब वह चक्षुरिन्द्रिय

का विषय होती है तब रूप कही जाती है और रसनेन्द्रिय का विषय होती है तब रस कही जाती है, जैसे कि एक ही पुरुष सम्बन्ध के भेद से पिता, मामा आदि व्यपदेशों को धारण करता है। इस प्रकार गुण और द्रव्य का अभेद सिद्ध करके भी एकान्ताभेद नहीं है ऐसा स्थिर करने के लिए फिर कहा कि वस्तु में विशेषताएँ केवल परसम्बन्ध कृत हैं यह बात नहीं है। उसमें तत्तद्रूप से स्वपरिणति भी मानना आवश्यक है। इन परिणामों में भेद बिना माने व्यपदेश भेद भी सम्भव नहीं। अतएव द्रव्य और गुण का भेद ही या अभेद ही है, यह बात नहीं; किन्तु भेदाभेद है। यही उक्त वादों का समन्वय है।

सिद्धसेन तर्कवादी अवश्य थे, किन्तु उसका मतलब यह नहीं है कि तर्क को वे अप्रतिहतगति समझते थे। तर्क की मर्यादा का पूरा ज्ञान उनको था। इसीलिए तो उन्हों ने स्पष्ट कह दिया है कि अहेतुवाद के क्षेत्र में तर्क को दखल न देना चाहिए। आगमिक बातों में–केवल श्रद्धागम्य बातों में श्रद्धा से ही काम लेना चाहिए और जो तर्क का विषय हो उसी में तर्क करना चाहिए।

दूसरे दार्शनिकों की त्रुटि दिखा कर ही सिद्धसेन सन्तुष्ट न हुए। उन्होंने अपना घर भी ठीक किया। जैनों की उन आगमिक मान्यताओं के ऊपर भी उन्होंने प्रहार किया है, जिनको उन्होंने तर्क से असंगत समझा। जैसे सर्वज्ञ के ज्ञान और दर्शन को भिन्न मानने की आगमिक परम्परा थी, उसके स्थान में उन्होंने दोनों के अभेद की नई परम्परा कायम की। तर्क के बल पर उन्होंने मति और श्रुत के भेद को भी मिटाया। अवधि और मनःपर्याय ज्ञान को एक बताया तथा दर्शन–श्रद्धा और ज्ञान का भी ऐक्य सिद्ध किया। जैन आगमों में नैगमादि सात नय प्रसिद्ध थे। उसके स्थान में उन्होंने उनमें से नैगम का समावेश संग्रह–व्यवहार में कर दिया और मूल नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक मान कर उन्हीं दो के अवान्तर भेद रूप से छः नयों की व्यवस्था कर दी। अवान्तर भेदों की व्यवस्था में भी उन्होंने अपना स्वातंत्र्य दिखाया है। इतना ही नहीं किन्तु उस समय के प्रमुख जैन संघ को युगधर्म की भी शिक्षा उन्होंने यह कह कर दी है कि सिर्फ सूत्रपाठ याद करके तथा उस पर चिन्तन और मनन न करके मात्र बाह्य अनुष्ठान के बल पर अब शासन की रक्षा होना कठिन है। नयवाद के विषय में गम्भीर चिन्तन–मनन करके अनुष्ठान किया जाय तब ही ज्ञान का फल विरति और मोक्ष मिल सकता है। और इसी प्रकार शासन की रक्षा भी हो सकती है।

सिद्धसेन की कृतियों में सन्मतितर्क, बत्तीसियाँ और न्यायावतार हैं। सन्मति-तर्क प्राकृत में और शेष संस्कृत में हैं।

सिद्धसेन के विषय में कुछ विस्तार अवश्य हो गया है, किन्तु वह आवश्यक है; क्योंकि अनेकान्तवादरूपी महाप्रासाद के प्रारम्भिक निर्माता शिल्पियों में उनका स्थान महत्त्वपूर्ण है।

सिद्धसेन के समकक्ष विद्वान् समन्तभद्र हैं। उनको स्याद्वाद का प्रतिष्ठापक कहना चाहिए। अपने समय में प्रसिद्ध सभी वादों की ऐकान्तिकता में दोष दिखाकर उन सभी का समन्वय अनेकान्तवाद में किस प्रकार होता है, यह उन्होंने खूबी के साथ विस्तार से बताया है। उन्होंने स्वयंभूस्तोत्र में चौबीसों तीर्थङ्करों की स्तुति की है। वह स्तुति स्तोत्र साहित्य में अनोखा स्थान रखती है। वह आलङ्कारिक एक स्तुतिकाव्य तो है ही, किन्तु उसकी विशेषता उसमें सन्निहित दार्शनिक तत्त्व में है। प्रत्येक तीर्थङ्कर की स्तुति में किसी न किसी दार्शनिकवाद का आलङ्कारिक निर्देश अवश्य किया है। युक्त्यनुशासन भी एक स्तुति के रूपमें दार्शनिक कृति है। प्रचलित सभी वादों में दोष दिखाकर यह सिद्ध किया गया है कि भगवान् के उपदेशों में उन दोषों का अभाव है। इतना ही नहीं, किन्तु भगवान् के उपदेश में जो गुण हैं उन गुणों का सद्भाव अन्य किसी के उपदेश में नहीं। तथापि उनकी श्रेष्ट कृति तो आप्तमीमांसा ही है।

हम अर्हन्त की ही स्तुति क्यों करते हैं, और दूसरों की क्यों नहीं करते? इस प्रश्न को लेकर उन्होंने आप्त की मीमांसा की है। आप्त कौन हो सकता है इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने सर्वप्रथम तो महत्ता की सच्ची कसौटी क्या हो सकती है, इसका विचार किया है। जो लोग बाह्य आडम्बर या ऋद्धि देखकर किसी को महान् समझ कर अपना आप्त या पूज्य मान लेते हैं उन्हें शिक्षा देने के लिए उन्होंने अरिहन्त को सम्बोधन करके कहा है—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्॥

देवों का आगमन, नभोयान और चामरादि विभूतियाँ तो मायावी पुरुषों में भी दिखाई देती हैं। अतएव इतने मात्र से तुम हमारे लिए महान् नहीं हो। फलितार्थ यह है कि श्रद्धाशील लोगों के लिए तो ये बातें महत्ता की कसौटी हो सकती हैं, किन्तु तार्किकों के सामने यह कसौटी चल नहीं सकती। इसीप्रकार शारिरिक महोदय भी महत्ता की कसौटी नहीं, क्योंकि देवलोक के निवासियों में

भी शारीरिक महोदय होते हुए भी वे महान् नहीं, क्योंकि उनमें रागादि दोष हैं। तब प्रश्न हुआ कि क्या जो तीर्थंकर या धर्म प्रवर्तक कहे जाते हैं जैसे बुद्ध, कपिल, गौतम, कणाद, जैमिनी आदि–उन्हें महान् और आप्त माना जाय? इसका उत्तर उन्होंने दिया है कि ये तीर्थंकर कहे तो जाते हैं किन्तु सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध होने से वे सभी तो आप्त हो नहीं सकते। किसी एक को ही आप्त मानना होगा[1]। वह एक कौन है, जिसे आप्त माना जाय? इसके उत्तर में उन्होंने कहा है कि जिसके मोहादि दोषों का अभाव हो गया है और जो सर्वज्ञ हो गया है वही आप्त हो सकता है। ऐसा निर्दोष और सर्वज्ञ व्यक्ति आप अर्थात् भगवान् वर्धमान आदि अर्हन्त ही हैं, क्योंकि आपका उपदेश प्रमाण से अबाधित है[2]। दूसरे कपिलादि आप्त नहीं हो सकते क्योंकि उनका जो उपदेश है, वह ऐकान्तिक होने से प्रत्यक्ष बाधित है। आप्त की मीमांसा के लिए ऐसी पूर्व भूमिका बाँध करके आचार्य समन्तभद्र ने क्रमशः सभी प्रकार के ऐकान्तिक वादों में प्रमाणबाधा दिखाकर समन्वयवाद, अनेकान्तवाद जो कि भगवान् महावीर के द्वारा उपदिष्ट है उसी को प्रमाण से अबाधित सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। सिद्धसेन के समान समन्तभद्र का भी यही कहना है कि एकान्तवाद का आश्रयण करने पर कुशलाकुशल कर्म की व्यवस्था और परलोक ये बातें असंगत हो जाती हैं।

समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में दो विरोधी एकान्तवादों में क्रमशः दोषों को दिखाकर यह बताने का सफल प्रयत्न किया है कि इन्हीं दो विरोधी एकान्तवादों का समन्वय यदि स्याद्वाद के रूप में किया जाता है, अर्थात् इन्हीं दो विरोधी वादों को मूल में रख कर सप्तभंगी की योजना की जाती है तो ये विरोधीवाद भी अविरुद्ध हो जाते हैं, निर्दोष हो जाते हैं। भगवान् के प्रवचन की यही विशेषता है।

सर्वप्रथम ऐसा समन्वय उन्होंने भावैकान्त और अभावैकान्तवाद को लेकर किया है। अर्थात् सत् और असत् को लेकर सप्तभंगी का समर्थन करके उन्होंने सिद्ध किया है कि ये सदद्वैत और शून्यवाद तभी तक विरोधी हैं जब तक वे अलग-अलग हैं किन्तु जब वे अनेकान्तरूपी मुक्ताहार के एक अंगरूप हो जाते

---

१ "तीर्थंकृत्समयानां च परस्परविरोधतः।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद् गुरुः॥"

२ "स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥"

हैं तब उनमें कोई विरोध नहीं। इसीप्रकार उन्होंने द्वैतवाद और अद्वैतवाद आदि का भी समन्वय कर लेने की सूचना की है। सिद्धसेन ने नयों का सुन्दर विश्लेषण किया तो समन्तभद्र ने उन्हीं नयों के आधार पर प्रत्येक वादों में स्याद्वाद की संगति कैसे बैठाना चाहिए इसे विस्तार से युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है। प्रत्येक दो विरोधी वादों को लेकर सप्तभङ्गों की योजना किस प्रकार करना चाहिए इसके स्पष्टीकरण में ही समन्तभद्र की विशेषता है।

उक्त वादों के अलावा नित्यैकान्त और अनित्यैकान्त; कार्य-कारण का भेदैकान्त और अभेदैकान्त; गुण-गुणी का भेदैकान्त और अभेदैकान्त; सामान्य-सामान्यवत् का भेदैकान्त और अभेदैकान्त; सापेक्षवाद और निरपेक्षवाद; हेतुवाद और अहेतुवाद; विज्ञप्तिमात्रवाद और बहिरंगार्थतैकान्तवाद; दैववाद और पुरुषार्थवाद; पर को सुख देने से पुण्य हो, दुःख देने से पाप हो—ऐसा एकान्तवाद और स्व को दुःख देने से पुण्य हो, सुख देने से पाप हो ऐसा एकान्तवाद; अज्ञान से बन्ध हो ऐसा एकान्त और स्तोकज्ञान से मोक्ष ऐसा एकान्त; वाक्यार्थ के विषय में विधिवाद और निषेधवाद—इन सभी वादों में युक्ति के बल से संक्षेप में दोष दिखा कर अनेकान्तवाद की निर्दोषता सिद्ध की है, प्रसंग से प्रमाण, सुनय और दुर्नय, स्याद्वाद इत्यादि अनेक विषयों का लक्षण करके उत्तर काल के आचार्यों के लिए विस्तृत चर्चा का बीजवपन किया है।

मल्लवादी और सिंहगणी—

सिद्धसेन के समकालीन विद्वान् मल्लवादी हुए हैं। वे वादप्रवीण थे अतएव उनका नाम मल्लवादी था। उन्होंने सन्मतितर्क की टीका की है। तदुपरान्त नयचक्र नामक एक अद्भुत ग्रन्थ की रचना की। ये श्वेताम्बराचार्य थे। किन्तु अकलंकादि दिगम्बराचार्यों ने भी इनके नयचक्र का बहुमान किया है।

तत्कालीन सभी दार्शनिकवादों को नयों के अन्तर्गत बता करके उन्होंने एक वादचक्र की रचना की है। उस चक्र में उत्तर उत्तर वाद पूर्व पूर्व वाद का विरोध करके अपने-अपने पक्ष को सबल सिद्ध करता है।

ग्रन्थकार का तो उद्देश्य यह है कि ये सभी एकान्तवाद अपने आपको पूर्ववाद से प्रबल समझते हैं किन्तु अपने वाद से दूसरे उत्तरवाद के अस्तित्वका खयाल वे नहीं रखते। एक तटस्थ व्यक्ति ही इस चक्रान्तर्गत प्रत्येक वाद की आपेक्षिक सबलता या निर्बलता जान सकता है; और वह तभी जब उसे पूरा चक्र मालूम हो। इन वादों को पंक्तिबद्ध न करके चक्रबद्ध करने का उद्देश्य यह है कि पंक्ति में

तो किसी एक वाद को प्रथम स्थान देना पड़ता है और किसी एक को अन्तिम। उत्तरोत्तर खंडन करने पर अन्तिम वाद को विजयी घोषित करना प्राप्त हो जाता है। किन्तु यदि इन वादों को चक्रबद्ध किया जाय तो वादों का अन्त भी नहीं और आदि भी नहीं। सुभीते के लिए किसी एक वाद की स्थापना प्रथम की जा सकती है और किसी एक पक्ष को अन्त में रक्खा जा सकता है, किन्तु चक्रबद्ध होने से उस अन्तिम के भी उत्तर में प्रथमवाद ही ठहरता है और वही उस अन्तिम का खंडन करता है और इस प्रकार एकान्तवादियों के खंडन-मंडन का चक्र चलता है। अनेकान्तवाद ही इन सभी वादों का समन्वय कर सकता है। आचार्य ने इन सभी को चक्रबद्ध करके यही सूचित किया है कि अपनी अपनी दृष्टि से वे सभी वाद सच्चे हैं, किन्तु दूसरों की दृष्टि में मिथ्या ठहरते हैं। अतएव नयवाद का उपयोग करके इन सभी वादों का समन्वय करना चाहिए; और उनकी सच्चाई यदि है तो किस नय की दृष्टि से है उसे विचारना चाहिए। मल्लवादी ने प्रत्येक वाद को किसी न किसी नयान्तर्गत करके सभी वादों के स्रोत को अनेकान्तवाद रूपी महासमुद्र में मिलाया है, जहाँ जाकर उनका पृथगस्तित्व मिट जाता है और सभी वादों का समन्वयरूप एक महासमुद्र ही दिखाई देता है। नयचक्र की एक और भी विशेषता है और वह यह कि उसमें इतर दर्शनों में भी किस प्रकार अनेकान्तवाद को अपनाया गया है उसे दिखाया है।

इस नयचक्र के ऊपर सिंह क्षमाश्रमण ने १८००० श्लोक प्रमाण बृहत्काय टीका की है। उनका समय सातवीं शताब्दी से उत्तर में हो नहीं सकता क्योंकि उन्होंने दिग्नाग और भर्तृहरि के तो कई उद्धरण दिये हैं किन्तु धर्मकीर्ति के ग्रन्थ का कोई उद्धरण नहीं। और न कुमारिल का ही उसमें कहीं नाम है। उसमें समन्तभद्र का भी कोई उद्धरण नहीं, किन्तु सिद्धसेन और उनके ग्रन्थों का उद्धरण बार-बार है। नयचक्रटीका का संपादन मुनि श्री जम्बूविजयजी कर रहे हैं।

पात्र केसरी—

इसी युग में एक और तेजस्वी दिगम्बर विद्वान् पात्रस्वामी हुए जिनका दूसरा नाम पात्रकेसरी था। इन्होंने 'त्रिलक्षण कदर्थन' नामक एक ग्रन्थ लिखा है। इस युग में प्रमाणशास्त्र से सीधा सम्बन्ध रखने वाली दो कृतियाँ हुईं एक सिद्धसेन कृत न्यायावतार और दूसरी कृति यह त्रिलक्षणकदर्थन। इसमें दिग्नाग समर्थित हेतु के त्रिलक्षण का खण्डन किया गया है और जैनदृष्टि से अन्यथानुपपत्ति रूप एक ही हेतुलक्षण सिद्ध किया गया है। जैन न्यायशास्त्र में हेतु का यही लक्षण न्यायावतार में और अन्यत्र मान्य है। यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

(३) प्रमाणशास्त्र-व्यवस्थायुग।

हरिभद्र और अकलंक—

असङ्ग-वसुबन्धु ने विज्ञानवाद की स्थापना की थी, किन्तु स्वतन्त्र बौद्ध दृष्टि से प्रमाणशास्त्र की रचना व स्थापना का कार्य तो दिग्नाग ने ही किया। अतएव वह बौद्ध तर्कशास्त्र का पिता माना जाता है। उन्होंने तत्कालीन नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक आदि दर्शनों के प्रमेयों का तो खण्डन किया ही किन्तु साथ ही उनके प्रमाणलक्षणों का भी खण्डन किया। इसके उत्तर में प्रशस्त, उद्द्योतकर, कुमारिल, सिद्धसेन, मल्लवादी, सिंहगणि, पूज्यपाद, समन्तभद्र, ईश्वरसेन, अविद्धकर्ण आदि ने अपने-अपने दर्शन और प्रमाणशास्त्र का समर्थन किया। तब दिग्नाग के टीकाकार और भारतीय दार्शनिकों में सूर्य के समान तेजस्वी ऐसे धर्मकीर्ति का पदार्पण हुआ। उन्होंने उन पूर्वोक्त सभी दार्शनिकों को उत्तर दिया और दिग्नाग के दर्शन की रक्षा की और नये प्रकाश में उसका परिष्कार भी किया। इस तरह बौद्ध दर्शन और खासकर बौद्धप्रमाणशास्त्र की भूमिका पक्की कर दी। इसके बाद एक ओर तो धर्मकीर्ति की शिष्य-परम्परा के दार्शनिक अर्चट, धर्मोत्तर, शान्तरक्षित, प्रज्ञाकर आदि हुए जिन्होंने धर्मकीर्ति के पक्ष की रक्षा की और इस प्रकार बौद्ध प्रमाणशास्त्र को स्थिर किया और दूसरी ओर प्रभाकर, उम्बेक, व्योमशिव, जयन्त, सुमति, पात्रस्वामी, मंडन आदि बौद्धेतर दार्शनिक हुए, जिन्होंने बौद्ध पक्ष का खंडन किया और अपने दर्शन की रक्षा की।

चार शताब्दी तक चलने वाले इस संघर्ष के फल स्वरूप आठवीं-नवीं शताब्दी में जैनदार्शनिकों में हरिभद्र और अकलंक हुए। हरिभद्र ने अनेकान्तजयपताका के द्वारा बौद्ध और इतर सभी दार्शनिकों के आक्षेपों का उत्तर दिया और उस दीर्घकालीन संघर्ष के मन्थन में से अनेकान्तवादरूप नवनीत सभी के सामने रक्खा; किन्तु इस युग का अपूर्व फल तो प्रमाणशास्त्र ही है और उसे तो अकलंक की ही देन समझना चाहिए। दिग्नाग से लेकर बौद्ध और बौद्धेतर प्रमाणशास्त्र में जो संघर्ष चला उसके फलस्वरूप अकलंक ने स्वतंत्र जैन दृष्टि से अपने पूर्वाचार्यों की परम्परा को खयाल में रख कर जैन प्रमाणशास्त्र का व्यवस्थित निर्माण और स्थापन किया। उनके प्रमाणसंग्रह, न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय आदि ग्रन्थ इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। अकलंक के पहले न्यायावतार और त्रिलक्षणकदर्थन न्यायशास्त्र के ग्रन्थ थे। हरिभद्र की तरह उन्होंने भी अनेकान्तवाद का

समर्थन, विपक्षियों को उत्तर दे करके आप्तमीमांसा की टीका अष्टशती में तथा सिद्धिविनिश्चय में किया है। और नयचक्र की तरह यह भी अनेक प्रसंग में दिखाने का यत्न किया है कि दूसरे दार्शनिक भी प्रच्छन्नरूप से अनेकान्तवाद को मानते ही हैं।

हरिभद्र ने स्वतन्त्ररूप से प्रमाणशास्त्र की रचना नहीं की किन्तु दिग्नागकृत (?) न्यायप्रवेश की टीका करके उन्होंने यह सूचित तो किया ही है कि जैन आचार्यों की प्रवृत्ति न्यायशास्त्र की ओर होनी चाहिए तथा ज्ञानक्षेत्र में चौका-बन्दी नहीं चलनी चाहिए। फल यह हुआ कि जैन दृष्टि से प्रमाणशास्त्र लिखा जाने लगा और जैनाचार्यों के द्वारा जैनेतर दार्शनिक या अन्य कृतियों पर टीका भी लिखी जाने लगीं। इसके विषय में आगे प्रसंगात् अधिक कहा जायगा।

अकलंक देव ने प्रमाणशास्त्र की व्यवस्था इस युग में की यह कहा जा चुका है। प्रमाणशास्त्र का मुख्य विषय प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति है। इसमें से प्रमाणों की व्यवस्था अकलंक ने इस प्रकार की है—
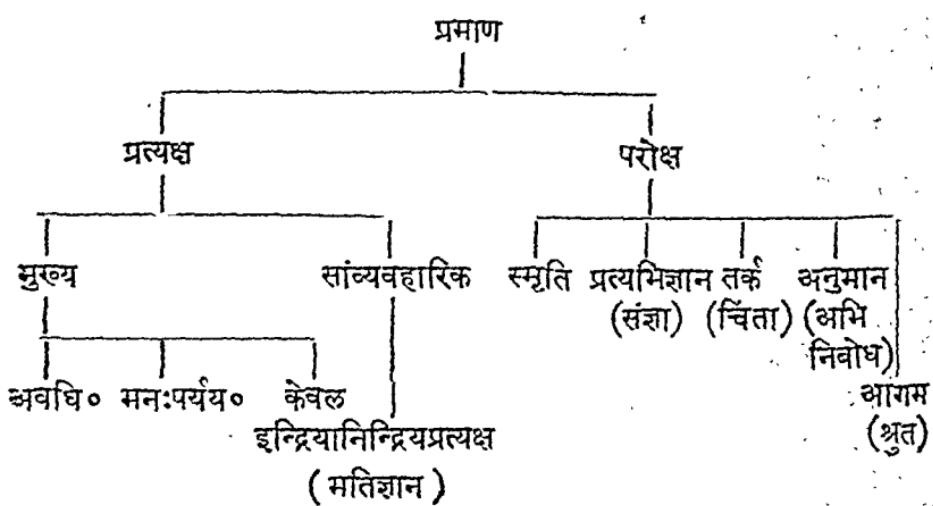
अकलंक की इस व्यवस्था का मूलाधार आगम और तत्त्वार्थ सूत्र हैं।

आगमों में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान बताए गए हैं। इनमें से प्रथम के दो इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से ही उत्पन्न हो सकते हैं और अन्तिम तीनों की मात्र आत्मसापेक्ष ही उत्पत्ति है; उसमें इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नहीं। अतएव सर्वप्रथम प्राचीन काल में आगम में इन पाँचों ज्ञानों का वर्गीकरण निम्न प्रकार हुआ जिसका अनुसरण तत्त्वार्थ और पंचास्तिकाय में भी हुआ देखा जाता है—
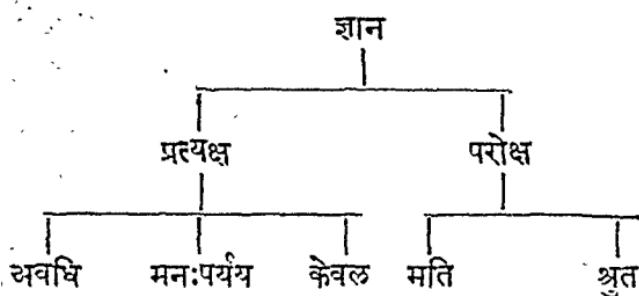
किन्तु बाद में इस विभागीकरण में परिवर्तन भी करना पड़ा। उसका कारण लोकानुसरण ही मालूम पड़ता है, क्योंकि लोक में प्रायः सभी दार्शनिक इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष ही मानते थे। अतएव जैनाचार्यों ने भी आगम-काल में ही ज्ञान के वर्गीकरण में थोड़ा परिवर्तन लोकानुकूल होने के लिए किया। इसका पता हमें नन्दीसूत्र से चलता है—

- ज्ञान
  - प्रत्यक्ष
    - इन्द्रिय प्रत्यक्ष
      - श्रोत्र० चक्षु० घ्राण० जिह्वा० स्पर्शन० (निर्विकल्प प्रत्यक्ष)
    - नो इन्द्रिय प्रत्यक्ष
      - अवधि० मनः० केवल०
  - परोक्ष
    - मति
      - श्रुतनिश्रित
        - अवग्रह ईहा अवाय धारणा (सविकल्प प्रत्यक्ष)
      - अश्रुतनिश्रित
        - औत्पत्तिकी वैनयिकी कर्मजा पारिणामिकी
    - श्रुत
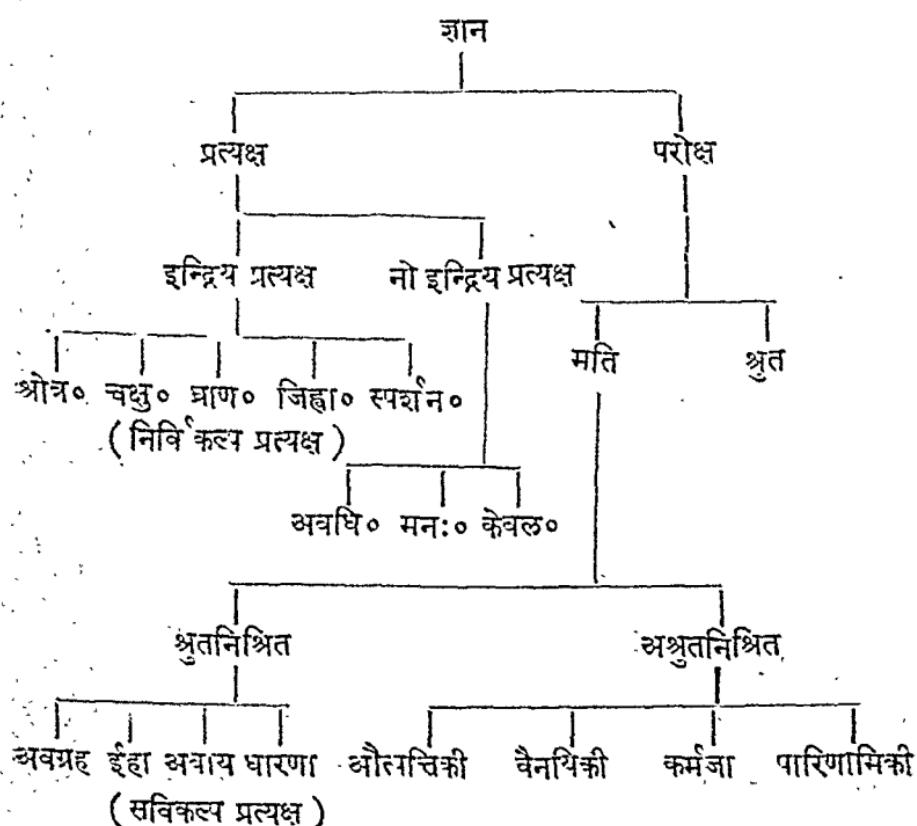
इससे स्पष्ट है कि नन्दीकार ने इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों में रक्खा। ज्ञान द्विरूप तो हो ही नहीं सकता अतएव, जिनभद्र ने स्पष्टी-

करण किया है कि इन्द्रिय ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मान करके नन्दीकार ने उसे प्रत्यक्ष में भी गिना है वस्तुतः वह परोक्ष ही है। नन्दीकार से पहले भी इन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाणान्तर्गत करने की प्रथा चल पड़ी थी इसका पता नन्दीसूत्र से भी प्राचीन अनुयोगद्वारसूत्र से चलता है। नन्दीकार ने तो उसी का अनुकरण मात्र किया है ऐसा जान पड़ता है। अनुयोग में प्रमाण विवेचन के प्रसंग में निम्न प्रकार से वर्गीकरण है—
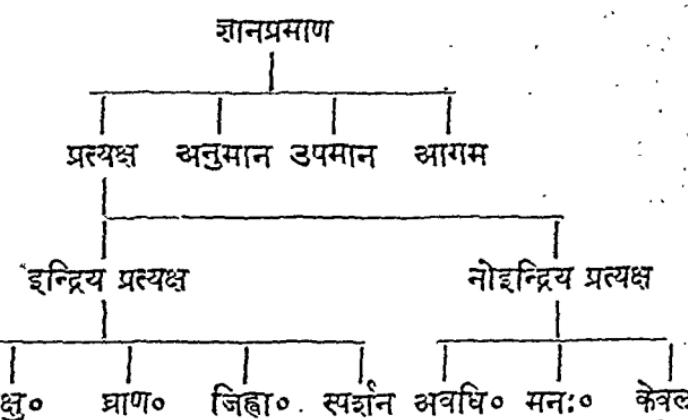
इसके स्पष्ट है कि अकलंक ने प्रत्यक्ष का जो सांव्यवहारिक भेद बताया है, वह आगमानुकूल ही है, वह उनकी नई सूझ नहीं। किन्तु स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तर्क, अनुमान और आगम रूप परोक्ष के पाँच भेदों का मति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध और श्रुत के साथ समीकरण ही उनकी मौलिक सूझ है। मति, संज्ञा आदि शब्दों को उमास्वाति ने एकार्थ बताया है और भद्रबाहु ने भी वैसा ही किया है। किन्तु जिनभद्र ने उन शब्दों को विकल्प से नानार्थक मान कर मत्यादि ज्ञानविशेष भी सिद्ध किया है। कुछ ऐसी ही परम्परा के आधार पर अकलंक ने ऐसा समीकरण उचित समझा होगा।

इस प्रकार समीकरण करके अकलङ्क ने प्रमाण के भेदोपभेद की तथा प्रमाण के लक्षण, फल, प्रमाता और प्रमेय की जो व्यवस्था की, वही अभी तक मान्य हुई है। अपवाद सिर्फ है तो न्यायावतार और उसके टीकाकारों का है। न्यायावतार में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण माने गए थे, अतएव उसके टीकाकार भी इन तीनों के ही पृथक् प्रामाण्य का समर्थन करते हैं।

हरिभद्र ने प्रमाणशास्त्र का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं बनाया, किन्तु शास्त्रवार्तासमुच्चय में तथा षड्दर्शनसमुच्चय में उन्होंने तत्कालीन सभी दर्शनों के प्रमाणों के विषय में भी विचार किया है। इसके अलावा षोडशक, अष्टक आदि ग्रन्थों

में भी दार्शनिक चर्चा उन्होंने की है। लोकतत्त्वनिर्णय समन्वय की दृष्टि से लिखी गई उनकी छोटी-सी कृति है। योगमार्ग के विषय में वैदिक और बौद्ध-वाङ्मय में जो कुछ लिखा गया था उसका जैन-दृष्टि से समन्वय करना हरिभद्र की जैनशास्त्र को खास देन है। इस विषय के योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय योगविंशिका, षोडशक आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उन्होंने प्राकृत भाषा में भी धर्म-संग्रहणी में जैनदर्शन का प्रतिपादन किया है। उनकी आगमों पर लिखी, गई दार्शनिक टीकाओं का उल्लेख हो चुका है। तत्त्वार्थ टीका के विषय में भी लिखा जा चुका है। हरिभद्र की प्रकृति के अनुरूप उनका यह वचन सब को उनके प्रति आदरशील बनाता है—

"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥"

लोकतत्त्वनिर्णय ।

विद्यानन्द—

इसी काल में विद्यानन्द हुए। यह युग यद्यपि प्रमाणशास्त्र का था, तथापि इस युग में पूर्व भूमिका के ऊपर अनेकान्तवाद का विकास भी हुआ है। इस विकास में विद्यानन्दकृत अष्टसहस्री अपना खास स्थान रखती है। विद्यानन्द ने तत्कालीन सभी दार्शनिकों के द्वारा अनेकान्तवाद के ऊपर किये गये आक्षेपों का तर्कसंगत उत्तर दिया है। अष्टसहस्री कष्टसहस्री के नाम से विद्वानों में प्रसिद्ध है। विद्यानन्द की विशेषता यह है कि प्रत्येक वादी को उत्तर देने के लिए प्रतिवादी खड़ा कर देना। यदि प्रतिवादी उत्तर दे और तटस्थ व्यक्ति वादि-प्रतिवादी दोनों की निर्बलता को जब समझ जाय तभी विद्यानन्द अनेकान्त-वाद के पक्ष को समर्थित करता है इससे वाचक के मन पर अनेकान्तवाद का औचित्य पूर्णरूप से जँच जाता है।

विद्यानन्द ने इस युग के अनुरूप प्रमाणशास्त्र के विषय में भी लिखा है। इस विषय में उनका स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रमाणपरीक्षा है। तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में भी उन्होंने प्रमाणशास्त्र से सम्बद्ध अनेक विषयों की चर्चा की है। इसके अलावा आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, युक्त्यनुशासनटीका आदि ग्रन्थ भी विद्यानन्द ने लिखे हैं। वस्तुतः अकलंक के भाष्यकार विद्यानन्द हैं।

अनन्तकीर्ति—

इन्हीं के समकालीन आचार्य अनन्तकीर्ति हैं। उन्होंने सिद्धिविनिश्चय के आधार से सिद्ध्यन्त ग्रन्थों की रचना की है। सिद्धिविनिश्चय में सर्वज्ञसिद्धि एक

प्रकरण है । मालूम होता है उसी के आधार पर उन्होंने लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि नामक दो प्रकरण ग्रन्थ बनाए । तथा सिद्धिविनिश्चय के जीवसिद्धिप्रकरण के आधार पर जीवसिद्धि नामक ग्रन्थ बनाया । जीवसिद्धि उपलब्ध नहीं । सिद्धिविनिश्चय के टीकाकार अनन्तवीर्य द्वारा उल्लिखित अनन्तकीर्ति यही हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं । वादिराज ने भी जीवसिद्धि के कर्त्ता एक अनन्तकीर्ति का उल्लेख किया है ।

शाकटायन—

इसी युग की एक और विशेषता पर भी विद्वानों का ध्यान दिलाना आवश्यक है । जैनदार्शनिक जब वादप्रवीण हुए तब जिस प्रकार उन्होंने अन्य दार्शनिकों के साथ वादविवाद में उतरना शुरू किया इसी प्रकार जैनसम्प्रदाय गत मतभेदों को लेकर आपस में भी वादविवाद शुरू कर दिया । परिणामस्वरूप इसी युग में यापनीय शाकटायन ने स्त्रीमुक्ति और केवलिमुक्ति नामक स्वतन्त्र प्रकरणों की रचना की जिनके आधार पर श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के पारस्परिक खण्डन ने अधिक जोर पकड़ा । शाकटायन अमोघवर्ष का समकालीन है क्योंकि इन्हीं की स्मृति में शाकटायन ने अपने व्याकरण की अमोघवृत्ति बनाई है । अमोघवर्ष का राज्यकाल वि० ८७१–९३४ है ।

अनन्तवीर्य—

अकलङ्क के सिद्धिविनिश्चय की टीका अनन्तवीर्य ने लिखकर अनेक विद्वानों के लिए कंटकाकीर्ण मार्ग को प्रशस्त किया है । प्रभाचन्द्र ने इनका स्मरण किया है । तथा शान्त्याचार्य ने भी इनका उल्लेख किया है । इनके विवरण के अभाव में अकलङ्क के संक्षिप्त और सारगर्भ सूत्रवाक्य का अर्थ समझना ही दुस्तर हो जाता । जो कार्य अष्टशती की टीका अष्टसहस्री लिखकर विद्यानन्द ने किया वही कार्य सिद्धिविनिश्चय का विवरण लिखकर अनन्तवीर्य ने किया, इसी भूमिका के बल से आचार्य प्रभाचन्द्र का अकलङ्क के ग्रन्थों में प्रवेश हुआ और न्यायकुमुदचन्द्र जैसा सुप्रसन्न और गम्भीर ग्रन्थ अकलङ्ककृत लघीस्त्रय की टीकारूप से उपलब्ध हुआ ।

माणिक्यनन्दी और सिद्धर्षि—

अकलंक ने जैनप्रमाणशास्त्र-जैनन्यायशास्त्र को पक्की स्वतन्त्रभूमिका पर स्थिर किया यह कहा जा चुका है । माणिक्यनन्दी ने दसवीं शताब्दी में अकलंक के

वाङ्मय के आधार पर ही एक 'परीक्षामुख' नामक ग्रंथ की रचना की। परीक्षामुख ग्रन्थ जैन न्यायशास्त्र के प्रवेश के लिए अत्यन्त उपयुक्त ग्रन्थ है; इतना ही नहीं किन्तु उसके बाद होने वाले कई सूत्रात्मक या अन्य जैनप्रमाण ग्रन्थों के लिए आदर्शरूप भी सिद्ध हुआ है, यह निःसन्देह है।

सिद्धर्षि ने इसी युग में न्यायावतार टीका लिख कर संक्षेप में प्रमाणशास्त्र का सरल और मर्मग्राही ग्रन्थ विद्वानों के सामने रखा है। किन्तु इसमें प्रमाण-भेदों की व्यवस्था अकलंक से भिन्न प्रकार की है। इसमें परोक्ष के मात्र अनुमान और आगम ये दो भेद ही माने गये हैं।

अभयदेव—

अभयदेव ने सन्मतिटीका में अनेकान्तवाद का विस्तार और विशदीकरण किया है क्योंकि यही विषय मूल सन्मति में है। उन्होंने प्रत्येक विषय को लेकर लम्बे-लम्बे वादविवादों की योजना करके तत्कालीन दार्शनिक सभी वादों का संग्रह विस्तारपूर्वक किया है। योजना में क्रम यह रक्खा है कि सर्वप्रथम निर्बलतम पक्ष उपस्थित करके उसके प्रतिवाद में उत्तरोत्तर ऐसे पक्षों को स्थान दिया है, जो क्रमशः निर्बलतर, निर्बल, सबल और सबलतर हों। अन्त में सबलतम अनेकान्तवाद के पक्ष को उपस्थित करके उन्होंने उस वाद का स्पष्ट ही श्रेष्ठत्व सिद्ध किया है। सन्मतिटीका को तत्कालीन सभी दार्शनिक ग्रन्थों के दोहनरूप कहें तो उचित ही है। अनेकान्तवाद के अतिरिक्त तत्कालीन प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और फल विषयक प्रमाणशास्त्र की चर्चा को भी उन्होंने उक्त क्रम से ही रख कर जैनदृष्टि से होने वाले प्रमाणादि के विवेचन को उत्कृष्ट सिद्ध किया है। इस प्रकार इस युग की प्रमाणशास्त्र की प्रतिष्ठा में भी उन्होंने अपना हिस्सा अदा किया है।

अभयदेव का समय वि० १०५४ से पूर्व ही सिद्ध होता है क्योंकि उनका शिष्य आचार्य धनेश्वर मुंज की सभा में मान्य था और इसी के कारण धनेश्वर का गच्छ राजगच्छ कहलाया है। मुंज की मृत्यु वि० १०५४ के आस-पास हुई है।

प्रभाचन्द्र—

किन्तु इस युग के प्रमाणशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड ही है इसमें तो सन्देह नहीं। इसके कर्ता प्रतिभासम्पन्न दार्शनिक प्रभाचन्द्र हैं। प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र की रचना लघीयस्त्रय की टीकारूप से की है उसमें भी मुख्यरूप से प्रमाणशास्त्र की चर्चा है। परीक्षामुखग्रन्थ जिसकी टीका प्रमेय-

कमलमार्तंड है, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय आदि अकलंक की कृतियों का व्यवस्थित दोहन करके लिखा गया है। उसमें अकलङ्कोक्त विप्रकीर्ण प्रमाणशास्त्र सम्बद्ध विषयों को क्रमबद्ध किया गया है। अतएव इसकी टीका में भी व्यवस्था का होना स्वाभाविक है। न्यायकुमुदचन्द्र में यद्यपि प्रमाणशास्त्र सम्बद्ध सभी विषयों की सम्पूर्ण और विस्तृत चर्चा का यत्र तत्र समावेश प्रभाचन्द्र ने किया है और नाम से भी उन्होंने इसे ही न्यायशास्त्र का मुख्यग्रन्थ होना सूचित किया है, फिर भी प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से क्रमबद्ध विषय-परिज्ञान प्रमेयकमलमार्तंड से ही हो सकता है, न्यायकुमुदचन्द्र से नहीं। अनेकान्तवाद का भी विवेचन पद-पद पर इन दोनों ग्रन्थों में हुआ है।

शाकटायन के स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिप्रकरण के आधार से अभयदेव ने स्त्रीमोक्ष और केवलिकवलाहार सिद्ध करके श्वेताम्बरपक्ष को पुष्ट किया और प्रभाचन्द्र ने शाकटायन की प्रत्येक दलील का खण्डन करके केवलिकवलाहार और स्त्रीमोक्ष का निषेध करके दिगम्बर पक्ष को पुष्ट किया। इस युग के अन्य श्वेताम्बर-दिगम्बराचार्यों ने भी इन विषयों की चर्चा अपने ग्रन्थों में की है।

प्रभाचन्द्र मुंज के बाद होने वाले धाराधीश भोज और जयसिंह का समकालीन है क्योंकि अपने ग्रन्थों की प्रशस्तियों में वह इन दोनों राजाओं का उल्लेख करता है। प० महेन्द्रकुमार जी ने प्रभाचन्द्र का समय वि० १०३७ से ११२२ अनुमानित किया है।

वादिराज—

वादिराज और प्रभाचन्द्र समकालीन विद्वान् हैं। सम्भव है वादिराज कुछ बड़े हों। वादिराज ने अकलंक के न्यायविनिश्चय का विवरण किया है। किसी भी वाद की चर्चा में कंजूसी करना वादिराज का काम नहीं। अनेक ग्रन्थों के उद्धरण देकर वादिराज ने अपने ग्रन्थ को पुष्ट किया है। न्यायविनिश्चय मूल ग्रन्थ भी प्रमाणशास्त्र का ग्रन्थ है। अतएव न्यायविनिश्चय विवरण भी प्रमाणशास्त्र का ही ग्रन्थ है। उसमें अनेकान्तवाद की पुष्टि भी पर्याप्त मात्रा में की गई है। प्रज्ञाकरकृत प्रमाणवार्तिकालङ्कार का उपयोग और खण्डन—दोनों इसमें मौजूद हैं।

जिनेश्वर, चन्द्रप्रभ और अनन्तवीर्य—

कुमारिल ने मीमांसाश्लोकवार्तिक लिखा, धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक, अकलङ्क ने राजवार्तिक और विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक लिखा। किन्तु

के बन जाने से श्वेताम्बराम्नाय से स्याद्वादरत्नाकर का पठन-पाठन वन्द हो गया। फलतः आज स्याद्वादरत्नाकर जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की सम्पूर्ण एक भी प्रति प्रयत्न करने पर भी अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है।

सिंह-व्याघ्रशिशु—

वादी देव के ही समकालीन आनन्दसूरि और अमरसूरि हुए जो अपनी बाल्यावस्था से ही वाद में प्रवीण थे और उन्होंने कई वादियों को वाद में पराजित किया था। इसीके कारण दोनों को सिद्धराज ने क्रमशः 'व्याघ्रशिशुक' और 'सिंहशिशुक' की उपाधि दी थी। इनका कोई ग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं यद्यपि अमरचन्द्र का सिद्धान्तार्णव ग्रन्थ था। सतीशचन्द्र विद्याभूषण का अनुमान है कि गंगेश ने सिंह–व्याघ्र व्याप्तिलक्षण नामकरण में इन्हीं दोनों का उल्लेख किया हो, यह सम्भव है।

रामचन्द्र आदि—

आचार्य हेमचन्द्र के विद्वान् शिष्यमण्डलमें से रामचन्द्र–गुणचन्द्र ने संयुक्तभाव से द्रव्यालङ्कार नामक दार्शनिककृति का निर्माण किया है, जो अभी तक अप्रकाशित है।

सं० १२०७ में उत्पादादिसिद्धि की रचना श्री चन्द्रसेन आचार्य ने की। इसमें वस्तु का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रिलक्षण का समर्थन करके अनेकान्तवाद की स्थापना की गई है।

चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में अभयतिलक ने न्यायालङ्कार टिप्पण लिखकर हरिभद्र के समान उदारता का परिचय दिया। यह टिप्पण न्यायसूत्र की क्रमिक पाँचों टीका–भाष्य, वार्तिक, तात्पर्य, परिशुद्धि और श्री कण्ठकृत न्यायालङ्कार के ऊपर लिया गया है।

सोमतिलक की षड्दर्शनसमुच्चय टीका वि० १३८९ में बनी। किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी में होनेवाले गुणरत्न ने जो षड्दर्शन की टीका लिखी वही अधिक उपादेय बनी है। इसी शताब्दी में मेरुतुङ्ग ने भी षड्दर्शननिर्णय नामक ग्रन्थ लिखा। राजशेखर जो पन्द्रहवीं के प्रारम्भ में हुए उन्होंने षड्दर्शनसमुच्चय, स्याद्वादकलिका, रत्नाकरावतारिकापञ्जिका इत्यादि ग्रन्थ लिखे। और ज्ञानचन्द्र ने रत्नाकरावतारिकापञ्जिकाटिप्पण लिखा।

राजशेखर जैनदर्शन के ग्रन्थ लिखकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने प्रशस्त-

उत्तर दिया है और इस प्रकार अपने समय तक की चर्चा को सर्वांश में सम्पूर्ण करने का प्रयत्न किया है। इनका जन्म वि० ११४३ और मृत्यु १२२६ में हुई।

हेमचन्द्र और मल्लिषेण—

वादी देवसूरि के जन्म के दो वर्ष बाद वि० ११४५ में सर्वशास्त्रविशारद आचार्य हेमचन्द्र का जन्म और वादी देवसूरि की मृत्यु के तीन वर्ष बाद उनकी मृत्यु हुई है (१२२९)। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने समय तक के विकसित प्रमाणशास्त्र की सारभूत बातें लेकर प्रमाणमीमांसा की सूत्रबद्ध ग्रन्थ के रूप में रचना की है; और स्वयं उसकी व्याख्या की है। हेमचन्द्र ने अपनी प्रतिभा के कारण कई जगह अपना विचार स्वातन्त्र्य भी दिखाया है। व्याख्या में भी उन्होंने अति संक्षेप या अति विस्तार का त्याग करके मध्यमार्ग का अनुसरण किया है। जैन न्यायशास्त्र के प्रवेश के लिए यह अतीव उपयुक्त ग्रन्थ है। दुर्भाग्यवश वह ग्रन्थ अपूर्ण ही उपलब्ध है। आचार्य हेमचन्द्र ने समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन का अनुकरण करके अयोगव्यवच्छेदिका और अन्ययोगव्यवच्छेदिका नामक दो दार्शनिक द्वात्रिंशिकाएँ रचीं। उनमें से अन्ययोगव्यवच्छेदिका की टीका मल्लिषेणकृत स्याद्वादमञ्जरी अपनी प्रसन्न गम्भीर शैली तथा सर्वदर्शनसारसंग्रह के कारण प्रसिद्ध है।

शान्त्याचार्य—

इस युग में हेमचन्द्र के समकालीन और उत्तरकालीन कई आचार्यों ने प्रमाणशास्त्र के विषय में लिखा है उनमें शान्त्याचार्य जो १२ वीं शताब्दी में हुए अपना खास स्थान रखते हैं। उन्होंने न्यायावतार का वार्तिक स्वोपज्ञ टीका के साथ रचा; और अकलङ्क स्थापित प्रमाणभेदों का खण्डन करके न्यायावतार की परम्परा को फिर से स्थापित किया।

रत्नप्रभ—

देवसूरि के ही शिष्य और स्याद्वादरत्नाकर के लेखन में सहायक रत्नप्रभसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर में प्रवेश की सुगमता की दृष्टि से अवतारिका बनाई। उसमें संक्षेप से दार्शनिक गहन वादों की चर्चा की गई है। इस दृष्टि से अवतारिका नाम सफल है, किन्तु भाषा की आडम्बरपूर्णता ने उसे रत्नाकर से भी कठिन बना दिया है। फिर भी वह अभ्यासियों के लिए काफी आकर्षण की वस्तु रही है। इसका अन्दाजा उसकी टीकोपटीका की रचना से लगाना सहज है। इसी रत्नाकरावतारिका

के बन जाने से श्वेताम्बराम्नाय से स्याद्वादरत्नाकर का पठन-पाठन वन्द हो गया। फलतः आज स्याद्वादरत्नाकर जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की सम्पूर्ण एक भी प्रति प्रयत्न करने पर भी अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है।

सिंह-व्याघ्रशिशु—

वादी देव के ही समकालीन आनन्दसूरि और अमरसूरि हुए जो अपनी बाल्यावस्था से ही बाद में प्रवीण थे और उन्होंने कई वादियों को वाद में पराजित किया था। इसीके कारण दोनों को सिद्धराज ने क्रमशः 'व्याघ्रशिशुक' और 'सिंहशिशुक' की उपाधि दी थी। इनका कोई ग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं यद्यपि अमरचन्द्र का सिद्धान्तार्णव ग्रन्थ था। सतीशचन्द्र विद्याभूषण का अनुमान है कि गंगेश ने सिंह-व्याघ्र व्याप्तिलक्षण नामकरण में इन्हीं दोनों का उल्लेख किया हो, यह सम्भव है।

रामचन्द्र आदि—

आचार्य हेमचन्द्र के विद्वान् शिष्यमण्डलमें से रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने संयुक्तभाव से द्रव्यालङ्कार नामक दार्शनिककृति का निर्माण किया है, जो अभी तक अप्रकाशित है।

सं० १२०७ में उत्पादादिसिद्धि की रचना श्री चन्द्रसेन आचार्य ने की। इसमें वस्तु का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रिलक्षण का समर्थन करके अनेकान्तवाद की स्थापना की गई है।

चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में अभयतिलक ने न्यायालङ्कार टिप्पण लिखकर हरिभद्र के समान उदारता का परिचय दिया। यह टिप्पण न्यायसूत्र की क्रमिक पाँचों टीका-भाष्य, वार्तिक, तात्पर्य, परिशुद्धि और श्री कण्ठकृत न्यायालङ्कार के ऊपर लिया गया है।

सोमतिलक की षड्दर्शनसमुच्चय टीका वि० १३८९ में वनी। किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी में होनेवाले गुणरत्न ने जो षड्दर्शन की टीका लिखी वही अधिक उपादेय वनी है। इसी शताब्दी में मेरुतुङ्ग ने भी षड्दर्शननिर्णय नामक ग्रन्थ लिखा। राजशेखर जो पन्द्रहवीं के प्रारम्भ में हुए उन्होंने षड्दर्शनसमुच्चय, स्याद्वादकलिका, रत्नाकरावतारिकापञ्जिका इत्यादि ग्रन्थ लिखे। और ज्ञानचन्द्र ने रत्नाकरावतारिकापञ्जिकाटिप्पण लिखा।

राजशेखर जैनदर्शन के ग्रन्थ लिखकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने प्रशस्त-

दिगम्बर विद्वान् विमलदास ने 'सप्तभङ्गी तरङ्गिणी' नामक ग्रन्थ का प्रणयन नवीनन्याय की शैली में किया है।

यशोविजय द्वारा स्थापित परम्परा का इस बीसवीं सदी में फिर से उद्धार हुआ है। आ० विजयनेमि का शिष्यगण नवीनन्याय का अध्ययन करके यशोविजय के साहित्य की टीकाओं का निर्माण करने लगा है।

[प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ से।
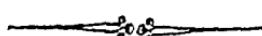
४. नये सम्माननीय सदस्य–

१. श्री पं० जुगलकिशोर जी, सरसावा
२. श्री पं० कृष्णचन्द्राचार्य, बनारस
३. श्री नथमलजी टाटिया M. A., बनारस

५. नये कोटावाला फेलो–

श्री पृथ्वीराज M. A. की नियुक्ति श्री कोटावाला फेलो के रूप में की गई है।

६. सहकारी सदस्य सन् १९४९ से ५१ तक के लिये :–

१. श्री सिद्धराज ढड्ढा M. A., जयपुर
२. श्री पं० कैलाशचन्द्रजी, बनारस
३. श्री पं० महेन्द्रकुमारजी, बनारस
४. श्री चुनीलाल व० शाह, अहमदाबाद
५. श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, M. A., डालमियानगर
६. श्री भुजबली शास्त्री, मुडबिद्री
७. श्री कामताप्रसाद जैन, अलीगञ्ज
८. श्री पं० महेन्द्रकुमार, 'अभय' बंबई
९. श्री दयालचन्द्रजी चोरडिया, आगरा
१०. श्री भीमजीभाई 'सुशील', भावनगर
११. श्री प्रो० भोगीलाल सांडेसरा, अहमदाबाद
१२. श्री पं० रतीलाल दीपचन्द देसाई, ,,
१३. श्री पं० अंबालाल प्रेमचन्द्र, देहगाम
१४. श्री पं० फतेहचन्द बेलाणी, अहमदाबाद
१५. श्री भँवरमलजी सिंघी M. A., कलकत्ता

७. 'कोटावाला फेलो' श्री नथमलजी टाटिया M. A., ने अपना महानिबन्ध Some Fundamental Problems of Jain Philosophy पूर्ण करके D. Litt. की उपाधि के लिये कलकत्ता यूनिवर्सिटी में परीक्षार्थ उपस्थित कर दिया है।

८. सूचित करते हर्ष है कि मण्डल के अध्यक्ष श्री डॉ० बूलचन्दजी M. A. Ph. D. की नियुक्ति Chief of Staff-Training Division के रूप में Unesco पेरिस में हुई है।

निवेदक–

ता० १५–१–४९

दलसुख मालवणिया
मन्त्री।

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस।

पत्रिका नं० ८

भगवान् महावीर

लेखक

पंडित दलसुखभाई मालवणिया
जैनदर्शनाध्यापक, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

जैन संस्कृति संशोधन मण्डल
P. o. बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

ई० १९५१]
[दो आना

भगवान् महावीर

श्रमण-संस्कृति और ईश्वर

श्रमण-संस्कृतिकी ही यह विशेषता है कि उसमें प्राकृतिक आधिदैविक देवों या नित्यमुक्त ईश्वरको पूज्यका स्थान नहीं। उसमें तो एक सामान्य ही मनुष्य अपना चरम विकास करके आम-जनता के लिये ही नहीं किन्तु यदि किसी देवका अस्तित्व हो तो उसके लिये भी वह पूज्य बन जाता है[1]। इसी लिये इन्द्रादि देवों का स्थान श्रमण-संस्कृतिमें पूजक का है, पूज्य का नहीं। भारतवर्ष में राम और कृष्ण-जैसे मनुष्यकी पूजा ब्राह्मण संस्कृति में होने तो लगी किन्तु ब्राह्मणों ने उन्हें कोरा मनुष्य, शुद्ध मनुष्य न रहने दिया। उन्हें मुक्त ईश्वर के साथ जोड़ दिया, उन्हें ईश्वर का अवतार माना गया। किन्तु इसके विरुद्ध श्रमण-संस्कृति के बुद्ध और महावीर पूर्ण पुरुष या केवल मनुष्य ही रहे। उनको नित्यबुद्ध, नित्यमुक्तरूप ईश्वर कभी नहीं कहा गया, क्योंकि नित्य ईश्वर को इस संस्कृति में स्थान ही नहीं।

अवतारवादका निषेध

एक सामान्य मनुष्य ही जब अपने कर्मानुसार अवतार लेता है तब—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥"

—इस सिद्धान्त को अवकाश नहीं। संसार कभी स्वर्ग हुआ नहीं और होगा भी नहीं। इसमें तो सदाकाल धर्मोद्धारक की आवश्यकता है। सुधारक के लिये, क्रान्ति के झंडाधारी के लिये, इस संसार में हमेशा अवकाश है। समकालीनों को उस सुधारक या क्रान्तिकारी की उतनी पहचान नहीं होती जितनी आनेवाली पीढ़ी को होती है। जबतक वह जीवित रहता है उसके भी काफी विरोधी रहते हैं। कालबल ही उन्हें भगवान्, बुद्ध या तीर्थंकर बनाता है। गरज यह कि प्रत्येक महापुरुष को अपनी समकालीन परिस्थिति की बुराइयों से लड़ना पड़ता है, क्रान्ति करनी पड़ती है, सुधार करना पड़ता है। जो जितना कर सके उतना ही उसका नाम होता है।

श्रमणसंस्कृति का मन्तव्य है कि जो भी त्याग और तपस्या के मार्ग पर चल कर अपने आत्म-विकास की पराकाष्ठा पर पहुँचता है, वह पूर्ण बन जाता है। भगवान् महावीर और बुद्ध के अलावा समकालीन अनेक पूर्ण पुरुष हुए हैं,

किन्तु आज उनका इतना नाम नहीं जितना उन दोनों समकालीन महापुरुषों का है। कारण यही है कि दूसरोंने अपनी पूर्णता में ही कृतकृत्यताका अनुभव किया और उनको समकालीन समाज और राष्ट्र के उत्थान में उतनी सफलता न मिली जितनी इन दो महापुरुषों को मिली। इन दोनों ने अपनी पूर्णता में ही कृतकृत्यता का अनुभव नहीं किया किन्तु समकालीन समाज और राष्ट्र के उत्थान में भी अपना पूरा बल लगाया। स्वयं और उनके शिष्यों ने चारों ओर पादविहार करके जनता को स्वतन्त्रता का सन्देश सुनाया और आन्तर और बाह्य बन्धनों से अनेकों को मुक्त किया।

परिस्थिति

भगवान् महावीर को किस परिस्थितिका सामना करना पड़ा—उसका संक्षेपसे कथन आवश्यक है। ब्राह्मणों ने धार्मिक अनुष्ठानों को अपने हाथ में रख लिया था। मनुष्य और देवों का सीधा सम्बन्ध हो नहीं सकता था जब तक बीच में पुरोहित आकर उसकी मदद न कर दे। एक सहायक के तौर पर यदि वे आते तो उसमें आपत्ति की कोई बात न थी, किन्तु अपने स्थिर स्वार्थों की रक्षा के लिये प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठानों में उनकी मध्यस्थता अनिवार्य कर दी गई थी। अतएव एक ओर धार्मिक अनुष्ठानों में अत्यन्त जटिलता कर दी गई थी कि जिससे उनके बिना काम ही न चले और दूसरी ओर अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये अनुष्ठान विपुल सामग्रीसे सम्पन्न होने वाले बना दिये गये थे जिससे उनको काफ़ी अर्थप्राप्ति भी हो जाय। ये अनुष्ठान ब्राह्मण जाति के अलावा और कोई करा न सकता था। अतएव उन लोगों में जात्यभिमान की मात्रा भी बढ गई थी। मनुष्यजातिकी समानता और एकता के स्थान में ऊंच-नीच-भावना के आधार पर जातिवाद का भूत खड़ा कर दिया गया था और समाज के एक अंग शूद्र को धार्मिक आदि सभी लाभों से वंचित कर दिया गया था।

उच्च जातिने अपने गौर वर्ण की रक्षा के लिये स्त्रियों की स्वतन्त्रता छीन ली थी, उनको धार्मिक अनुष्ठान का स्वातन्त्र्य न था। अपने पतिदेव की सहचारिणी के रूप में ही धार्मिक क्षेत्र में उनको स्थान था।

गणराज्यों के स्थान में व्यक्तिगत स्वार्थों ने आगे आकर वैयक्तिक राज्य जमाने शुरू किये थे और इस कारण राज्यों में परस्पर [illegible] वातावरण फैला था।

धार्मिक परिस्थिति

धर्म का मतलब या धार्मिक अनुष्ठानों का मतलब इतना ही था कि इस संसार में जितना और जैसा सुख है उससे अधिक यहाँ और मृत्यु के बाद वह मिले। धार्मिक साधनों में मुख्य यज्ञ था, जिसमें वेदमन्त्र के पाठ के द्वारा अत्यधिक मात्रा में हिंसा होती थी। इसकी भाषा संस्कृत होने के कारण लोकभाषा प्राकृत का अनादर स्वाभाविक हुआ। वेद के मन्त्रों में ऋषियों ने काव्यगान किया है, सुखसाधन जुटा देने वाली प्रकृति को धन्यवाद दिया है। ऋषियों ने नाना प्रकार के देवताओं की स्तुति की है, प्रार्थना की है और अपनी आशा-निराशा को व्यक्त किया है। इन्हीं मन्त्रों के आधार से यज्ञोंकी सृष्टि हुई है। अतएव मोक्ष या निर्वाण की, आत्यन्तिक सुख की, पुनर्जन्म के चक्रको काटने की बात को उसमें अवकाश नहीं। धर्म, अर्थ, और काम—इन तीन पुरुषार्थों की सिद्धि के आसपास ही धार्मिक अनुष्ठानों की सृष्टि थी।

इस परिस्थिति का सामना भगवान् महावीर से भी पहले शुरू हो गया था, जिसका आभास हमें आरण्यकों और प्राचीन उपनिषदों से भी मिलता है। किन्तु भगवान् महावीर और बुद्ध ने जो क्रान्ति की और उसमें जो सफलता पाई वह अद्भुत है। इसीलिये तत्कालीन इन्हीं दो महापुरुषों का नाम आज तक लाखों लोगों की जबान पर है।

संक्षिप्त चरित्र

भगवान् महावीर का जन्म क्षत्रियकुंडपुर में (वर्तमान बसाढ़) पटना से कुछ ही माइल की दूरी पर हुआ था। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। उनके पिता ज्ञातृवंश के क्षत्रिय थे और वे काफी प्रभावशाली व्यक्ति होंगे, क्योंकि उनकी पत्नी त्रिशला वैशाली के अधिपति चेटक की बहन थी। इसी चेटक से सम्बन्ध के कारण तत्कालीन मगध, वत्स, अवन्ती आदि के राजाओं के साथ भी उनका सम्बन्ध होना स्वाभाविक है, क्योंकि चेटक की पुत्रिओं का ब्याह इन सब राजाओं के साथ हुआ था। चेटक की एक पुत्री की शादी भगवान् महावीर के बड़े भाई के साथ हुई थी। संभव है भगवान् के अपने धर्म के प्रचार में इस सम्बन्ध के कारण भी कुछ सहूलियत हुई हो।

माता-पिता ने उनका नाम वर्धमान रक्खा था, क्योंकि उनके जन्म से उनकी सम्पत्ति में वृद्धि हुई थी। किन्तु इसी सम्पत्ति की निःसारता से प्रेरित होकर उन्होंने त्याग और तपस्या का जीवन स्वीकार किया। उनकी घोर

अत्युत्कट साधना के कारण उनका नाम महावीर होगया और उसी नाम से वे प्रसिद्ध हुए। वर्धमान नाम लोग भूल भी गये।

भगवान् महावीर के माता-पिता भ० पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। अतएव बालकपन से ही उनका संसर्ग त्यागी महात्माओं से हुआ, यही कारण है कि उनको सांसारिक वैभवों की अनित्यता और निस्सारता का ज्ञान हुआ। संसार की अनित्यता और अशरणता के अनुभव ने ही उनको भी त्याग और वैराग्य की ओर झुकाया। उन्होंने सच्ची शांति, सुख और वैभवों के भोग में नहीं किन्तु त्याग में देखी। आखिरकार ३० वर्ष की युवावस्था में सब कुछ छोड़ कर त्यागी बन गये। ३० वर्ष तक भी जो उन्होंने गृहवास स्वीकार किया, उसका कारण भी अपने माता-पिता और बड़े भाई की इच्छा का अनुसरण था। संसार में रहते हुए भी उनका मन सांसारिक पदार्थों में लिप्त नहीं था, अंतिम एक वर्ष में तो उन्होंने अपना सब कुछ दीन-हीन लोगों को दे दिया था और अकिंचन हो करके अन्त में घर छोड़ करके निकल गये थे।

तपस्या का रहस्य

भगवान् पार्श्वनाथ ने समकालीन तामसी तपस्याओं का विरोध करके आत्मशोधन का सरल मार्ग बताया था—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, और अपरिग्रह। उन्होंने वृक्ष पर लटकना, पंचाग्नि-तप, लोहे के कांटों पर सोना, इत्यादि तामसी तपस्याओं के स्थान में ध्यान, धारणा, समाधि और उपवास-अनशन आदि सात्त्विक उपायों का आश्रय लिया और अपनी उत्कट तथा सतत अप्रमत्त साधना के बल से आत्मशोधन करके कैवल्य प्राप्त किया। भगवान् बुद्ध ने तपस्या को कायक्लेश बताकर आत्मशुद्धि में अनुपयोगी बताया है। उन्होंने खुद दीर्घकाल पर्यन्त उत्कट तपस्याएँ की, किन्तु बोधिलाभ करने में असफल रहे। इसका कारण यह नहीं है कि तपस्या से आत्मशुद्धि होती नहीं, या तपस्या एक सदुपाय नहीं है।

बात यह है कि तपस्याकी एक मर्यादा है और वह यह कि जबतक आत्मिक शांति बनी रहे—समाधि में बाधा न पड़े—तब तक ही तपस्या श्रेयस्कर है। ऐसी तपस्यायें, अमर्याद तपस्याएँ निष्फल हैं जिनसे समाधि में भी बाधा आये। भगवान् बुद्ध ने अपनी शक्ति का ख्याल न करके ऐसी उत्कट

तपस्या की जिससे उनकी समाधि भग्न ही हो गई। अतएव उनको तपस्या निष्फल दीखे इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु भगवान् महावीर ने दीर्घ तपस्या करके भी सदा अपनी शक्ति का पूरा ख्याल रखा। अपनी शक्ति के बाहर असर्याद तपस्या उन्होंने नहीं की। यही कारण है कि जिस तपस्या को बुद्धने निष्फल बताया उसी तपस्या के बलसे महावीर ने बोधिलाभ किया। भगवान् बुद्धने भी अपने उपदेशों में कुछ-एक तपस्या का विधान किया है।

संयम-मार्ग

भगवान् महावीर की तपस्या की सफलता का रहस्य संयम में है। उनकी प्रतिज्ञा थी कि 'किसी प्राणी को पीड़ा न देना। सर्व सत्त्वों से मैत्री रखना। अपने जीवन में जितनी भी बाधाएँ उपस्थित हों उन्हें बिना किसी दूसरे की सहायता के समभाव पूर्वक सहन करना।' इस प्रतिज्ञा को एक वीर पुरुष की तरह उन्होंने निभाया, इसीलिए महावीर कहलाये। संयम की इस साधना के लिये यह आवश्यक है कि अपनी प्रवृत्ति संकुचित की जाय, क्योंकि मनुष्य, चाहे तब भी, सभी जीवों के सुख के लिए चेष्टा अकेला नहीं कर सकता। अपने आस-पास के जीवों को भी वह बड़ी मुश्किल से सुखी कर सकता है। तब संसार के सभी जीवों के सुख की जिम्मेदारी अकेला कैसे ले सकता है? किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि उसे कुछ न करना चाहिए। उसे अपनी मैत्री-भावना का विस्तार करना चाहिए। तथा अपने शारीरिक व्यवहार को, अपनी आवश्यकताओं को इतना कम करना चाहिए कि उससे दूसरों को जरा भी कष्ट न हो। वही व्यवहार किया जाय, उसी प्रवृत्ति और उसी चीज को स्वीकार किया जाय, जो अनिवार्य हो। अपनी प्रवृत्ति को, अनिवार्य प्रवृत्ति को भी अप्रमाद पूर्वक किया जाय[२]। यही संयम है और यही निवृत्ति-मार्ग है।

भगवान् की साधना

इस संयम-मार्ग का अवलंबन भगवान् महावीर ने अप्रमत्त भाव से किया है। आत्मा को शुद्ध करने के लिये, विज्ञान, सुख और शक्ति से परिपूर्ण करने के

लिये और दोषावरणों को हटाने के लिये उन्होंने जो पराक्रम किया है उसकी गाथा आचारांग के अतिप्राचीन अंश—प्रथम श्रुतस्कंध में ग्रथित है। उसे पढ़ कर एक दीर्घ तपस्वी की साधना का साक्षात्कार होता है। उस चरित्र में ऐसी कोई दिव्य बात नहीं, ऐसा कोई चमत्कार वर्णित नहीं है जो अप्रतीतिकर हो या अंशतः भी असत्य या असंभव मालूम हो। वहाँ उनका शुद्ध मानवी चरित्र वर्णित है। अपूर्णता से पूर्णता की ओर प्रस्थित एक अप्रमत्त संयमी का चरित्र वर्णित है। उस चरित्र को और जैन-धर्म के आचरण के विधि-निषेधों को मिलाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान्‌ने जिस प्रकार की साधना खुद की है उसी मार्ग पर दूसरों को ले जाने के लिये उनका उपदेश रहा है। जिसका उन्होंने अपने जीवन में पालन नहीं किया ऐसी कोई कठिन तपस्या या ऐसा कोई आचार का नियम दूसरों के लिए उन्होंने नहीं बताया।

गृहत्याग के बाद उन्होंने कभी वस्त्र स्वीकार नहीं किया। अतएव कठोर शीत, गरमी, डांस-मच्छर और नाना-क्षुद्र-जन्तु-जन्य परिताप को उन्होंने सम-भावपूर्वक सहा। किसी घर को अपना नहीं बनाया। स्मशान और अरण्य, खण्डहर और वृक्षछाया—ये ही इनके आश्रयस्थान थे। नग्न होने के कारण भग-वान् को चपल बालकों ने अपने खेल का साधन बनाया, पत्थर और कंकड़ फेंके। रात को निद्रा का त्यागकर ध्यानस्थ रहे। और निद्रा से सताये जाने पर थोड़ा चंक्रमण किया। कभी कभी चौकीदारों ने उन्हें काफी तकलीफ दी। गरम पानी और भिक्षाचर्या से जैसा मिल गया अपना काम चला लिया। किन्तु कभी भी अपने निमित्त बना अन्न-पान स्वीकार नहीं किया। बारह वर्ष की कठोर तप-श्चर्या में, परम्परा कहती है कि, उन्होंने सब मिलाकर ३५० से अधिक दिन भोजन नहीं किया। मान-अपमान को उस जितेन्द्रिय महापुरुष ने समभाव से सहा। उन्हें साधक जीवन में कभी औषध के प्रयोग की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई, इतने वे संयमी और मात्राज्ञ थे। अनार्य देश में उन्होंने विहार किया तब वहाँ के अज्ञानी जीवों ने उनकी ओर कुत्ते छोड़े किन्तु वे दुःखों की कुछ भी परवाह न करके अपने ध्यान में अटल रहे।

इस प्रकार अपने कषायों पर विजय पाने के लिये, अपने दोषों को निर्मूल करने के लिये साढ़े बारह वर्ष दीर्घ तपस्या का अनुष्ठान करके उन्होंने ४२ वर्ष की उम्र में वीतरागता पाई और जिन हुए, तत्त्व का साक्षात्कार किया और केवली हुए। तथा लोगों को हित का उपदेश देकर तीर्थंकर बने।

तीर्थंकर होने के बाद सर्वप्रथम उन्होंने ब्राह्मण पंडितों को शिष्य बनाया। वेद के लौकिक अर्थ में तथा उसके स्वाध्याय में ये निपुण थे। किन्तु उसका नया आध्यात्मिक अर्थ जब भगवान् महावीर ने बताया तो उनको पारमार्थिक धर्म का स्वरूप ज्ञात हो गया। यज्ञ क्या है, यज्ञ-कुण्ड क्या है, समिध किसे कहते हैं, आहूति किसकी दी जाय, स्नान कैसे किया जाय, इन बातों का अभूतपूर्व ही स्पष्टीकरण जब भगवान् ने किया, वेद में आपाततः दिखने वाले कुछ विरोधों को तथा उसमें होने वाली शंकाओं को भगवान् ने जब दूर किया, तब वेद-निष्णात इन ब्राह्मणों ने भगवान् में एक नई प्रतिभा और प्रज्ञा का दर्शन किया। जैन शास्त्रोंमें या जैन-धर्म में वेद का प्रामाणिक पुस्तक के रूप में कोई स्थान नहीं। धार्मिक पुरुषों की आध्यात्मिक भूख मिटाने का साधन वेद-वेदांग नहीं, किन्त भगवान् महावीर के द्वारा दिये गये उपदेशों का जो संकलन गणधर कहलाने वाले उन ब्राह्मण पंडितों ने किया, वही है। यह संकलन जैन-आगम नाम से प्रसिद्ध है। वेद को जैन-धर्म में एकान्त मिथ्या नहीं बताया किन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुष अर्थात् जैन-धर्म के रहस्य का जिसने पान किया है, और जो उसमें तन्मय हो गया है ऐसे पुरुष के लिये वह सम्यक् श्रुति ही है। वेद-वेदांग उन मोघ पुरुषों के लिये मिथ्या सिद्ध होता है जिन्होंने धर्म का असली स्वरूप नहीं पहचाना है।

समभाव का उपदेश

जिन ब्राह्मणों को अपनी जाति का, अपनी संस्कृत भाषा का, अपनी विद्वत्ता का अभिमान था उनका वह अभिमान भगवान् के सामने चूर हो गया। वे भगवान् के सम-भाव के सन्देश का लोकभाषा प्राकृत में प्रचार करने लगे। जिन शूद्रों को धार्मिक अधिकारों से वे पहले वंचित समझते थे उनको भी दीक्षा देकर श्रमण-संघ में स्थान देकर उन्होंने गुरुपद का अधिकारी बनाया। इतना ही नहीं, किन्तु हरिकेशी[1] जैसे चाण्डाल मुनि को इतनी उन्नत भूमिका पर पहुँचने में वे सहायक हुए कि वह चाण्डाल मुनि भी ब्राह्मणों का गुरु हो गया। एक समय की बात है कि वह चाण्डाल मुनि यज्ञवाटिका में भिक्षा के लिये चला गया। तिरस्कार और अपमान, दण्डों की मार और धुत्कार को समभाव पूर्वक सहन करके भी उसने जब उन यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणों को अहिंसक

यज्ञ का रहस्य बतलाया तब उन ब्राह्मणों ने चाण्डाल ऋषि से क्षमा मांगी और उनकी तपस्याकी प्रशंसा की और जाति-वाद का तिरस्कार करके उनके अनुयायी बन गये।

भगवान् महावीर ने तीर्थंकर होकर भी अपना अनियत वास कायम रखा! वे और उनके शिष्य भारत में चारों ओर पाद-विहार करके अहिंसा के सन्देश को फैलाने लगे। उनका आदेश था कि लोगों को शांति, वैराग्य, उपशम, निर्वाण, शौच, ऋजुता, निरभिमानता, अपरिग्रह और अहिंसा का उपदेश, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से दिया जाय। यही कल्याणकारी धर्म है। लोगों को शान्ति और सुख, विज्ञान और शक्ति इसी धर्म पर चल कर मिल सकती है। हिंसा और धर्म यह तो विरोध है—इसका भान लोगों को कराना यही उनके उपदेश का सार है।

जैन-संघ

उनके उपदेश को सुन कर वीरांगक, वीरयश, संजय, एणेयक, सेय, शिव, उदयन और शंख इन आठ समकालीन राजाओं ने प्रव्रज्या अंगीकार की थी। और अभयकुमार, मेघकुमार आदि अनेक राजकुमारों ने भी घर-बार छोड़ कर व्रतों को अंगीकार किया था। स्कंधक प्रमुख अनेक तापस तपस्या का रहस्य जानकर भगवान् के शिष्य बन गये थे। अनेक स्त्रियाँ भी संसार की असारता को समझकर उनके श्रमणी-संघ में शामिल होगई थीं। उनमें अनेक तो राज-पुत्रियाँ भी थीं। उनके गृहस्थ अनुयायिओं में मगधराज श्रेणिक और कुणिक, वैशालिपति चेटक, अवन्तिपति चण्डप्रद्योत आदि मुख्य थे। आनन्द आदि वैश्य श्रमणोपासकों के अलावा शकडाल-पुत्र जैसे कुंभकार भी उपासक-संघ में शामिल थे। अर्जुन माली जैसे दुष्ट से दुष्ट हत्यारे भी उनके पास वैरत्याग करके शान्तिरस का पान कर, क्षमा को धारण कर दीक्षित हुए थे। शूद्रों और अतिशूद्रों को भी उनके संघ में स्थाना था।

उनका संघ राढादेश, मगध, विदेह, काशी, कोशल, शूरसेन, वत्स, अवन्ती आदि देशों में फैला हुआ था। उनके विहारके मुख्य क्षेत्र मगध, विदेह, काशी, कोशल, राढादेश और वत्स देश थे।

तीर्थंकर होने के बाद ३० वर्ष पर्यन्त सतत विहार करके लोगों को आदि में कल्याण, मध्य में कल्याण और अन्त में कल्याण ऐसे अहिंसक धर्म का

उपदेश कर इहजीवन लीला समाप्त करके ७२ वर्ष की आयु में मोक्ष-लाभ किया। लोगों ने दीपक जलाकर उनको विदाई दी। तब से दीपावली पर्व प्रारम्भ हुआ है, ऐसी परम्परा है।

चरित्र की विशेषता

भगवान् महावीरके चरित्र की विशेषता—उनके जन्मके समय देवलोक से देव-देवियों ने आकर उनका जन्म महोत्सव किया, स्नानक्रिया के समय बालक महावीर ने मेरुकम्पन किया, साधना के समय अनेक इन्द्रादि देवों ने उनकी सेवा की मांग की, उनके समवसरण में देव-देवियों का आगमन हुआ, उनके शरीर में सफेद लोहू था, उनको दाढ़ी मूँछ होतेही न थे—इत्यादि बातों में नहीं। ये बातें तो उनके मानवीय चरित्र को अलौकिक रूप देने के लिये या भारत के अन्य कृष्णादि महापुरुषों के पौराणिक चरित्र की प्रतिस्पर्धा में आचार्यों ने उनके चरित्र में वर्णित की हैं। उनकी महत्ता का मापदण्ड ये बातें नहीं। किन्तु एक सामान्य मानव से ऐसे एक महापुरुष में उनका परिवर्तन जिन विशेषताओं से हुआ उन विशेषताओं में ही उनकी महत्ता है।

तत्कालीन धार्मिक समाज में छोटे-मोटे अनेक धर्म-प्रवर्तक थे। किन्तु भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर का प्रभाव अभूतपूर्व था। उन दोनों के श्रमण-संघों ने ब्राह्मण-धर्म में से हिंसा का नाम मिटा देने का अत्युग्र प्रयत्न किया। परिणाम यह है कि कालिका या दुर्गा के नाम जो कुछ बलि चढ़ाई जाती है उसको छोड़ कर धर्म के नाम पर हिंसा का निर्मूलन ही हो गया। जिन यज्ञों की पशुवध के बिना पूर्णाहित हो नहीं सकती थी ऐसे यज्ञ भारतवर्ष से नामशेष हो गये। पुष्यमित्र-जैसे कट्टर हिन्दू राजाओं ने उन नामशेष यज्ञों को जिलाने का प्रयत्न करके देखा, किन्तु यह तो श्रमण-संघों के अप्रतिहत प्रभाव, उनके त्याग और तपस्या का फल है कि वे भी उन हिंसक यज्ञों का पुनर्जीवन दीर्घकालीन न रख सके।

कर्मवाद

भगवान् महावीर ने तो मनुष्य के भाग्य को ईश्वर और देवों के हाथ में से निकाल कर खुद मनुष्य के हाथ में रखा है। किसी देव की पूजा या भक्ति से या उसको खून से तृप्त करके यदि कोई चाहे कि उसको सुख की प्राप्ति होगी तो भगवान् महवीर ने उससे स्पष्ट ही कह दिया है कि हिंसा से तो प्रति-

हिंसा को उत्तेजना मिलती है, लोगों में परस्पर शत्रुता बढ़ती है और सुख की कोई आशा नहीं। सुख चाहते हो तो सब जीवों से मैत्री करो, प्रेम करो, सब दुःखी जीवों के ऊपर करुणा रक्खो। ईश्वर में और देवों में यह सामर्थ्य नहीं कि वे तुम्हें सुख या दुःख दे सकें। तुम्हारे कर्म ही तुम्हें सुखी और दुःखी करते हैं। अच्छा कर्म करो अच्छा फल पाओ और बुरा करके बुरा नतीजा भुगतने के लिये तैयार रहो"।

जीव ही ईश्वर है

और ईश्वर या देव—? वह तो तुम ही हो। तुम्हारी अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख प्रच्छन्न हैं। उनका आविर्भाव करके तुम ही ईश्वर हो जाओ। फिर तुममें और मुझमें कोई भेद नहीं, हम सभी ईश्वर हैं। भक्ति या पूजा करना ही है तो अपने आत्मा की करो। उसे राग और द्वेष, मोह और माया, तृष्णा और भय से मुक्त करो–इससे बढ़कर कोई पूजा, कोई भक्ति श्रेष्ठ हो नहीं सकती। जिन ब्राह्मणों को तुम मध्यस्थ बनाकर देवों को पुकारते हो वे तो अर्थशून्य वेद का पाठ मात्र जानते हैं। सच्चा ब्राह्मण कैसा होता है उसे मैं तुम्हें बताता हूँ—

सच्चा ब्राह्मण

जो अपनी संपत्ति में आसक्त नहीं, किसी इष्ट वियोग में शोकाकुल नहीं, तप्त सुवर्ण की भांति निर्मल है, राग-द्वेष और भय से रहित है, तपस्वी और त्यागी है, सब जीवों में सम-भाव को धारण करता है–अतएव उनकी हिंसा से विरत है, क्रोध-लोभ, हास्य और भय के कारण असत्य-भाषी नहीं है, चोरी नहीं करता, मन वचन और काय से संयत है–ब्रह्मचारी है, अकिंचन है–वही सच्चा ब्राह्मण है[१]। ऐसे ब्राह्मण के सान्निध्य में रह कर अपने आत्मा का चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करके उसका साक्षात्कार करो। यही भक्ति है–यही पूजा है और यही स्तुति है।

सच्चा यज्ञ

सच्चे यज्ञ का भी स्वरूप भगवान् ने बताया है—

जीवहिंसा का त्याग, चोरी, झूठ और असंयमका त्याग, स्त्री, मान और माया का त्याग, इस जीवन की आकांक्षा का त्याग, शरीर के ममत्व का भी

त्याग—इस प्रकार सभी बुराइयों को जो त्याग देता है वही महात्यागी[७] है। यज्ञ में सभी जीवका भक्षण करनेवाली अग्नि का कोई प्रयोजन नहीं, किन्तु तपस्या-रूपी अग्नि को जलाओ। पृथ्वी को खोदकर कुण्ड बनाने की कोई आवश्यकता नहीं, जीवात्मा ही अग्निकुण्ड है। लकड़ी से बनी कुडछी की कोई जरूरत नहीं—मन, वचन, काय की प्रवृत्ति ही उसका काम दे देगी। इन्धन जलाकर क्या होगा? अपने कर्मों को, अपने पापकर्मों को ही, जला दो। यही यज्ञ है जो, संयम रूप है, शान्तिदाता है, सुखदायी है और ऋषियों ने भी इसकी प्रशंसा की है[८]।

शौच

बाह्य शौच का और उसके साधन तीर्थ-जल का इतना महत्त्व बढ़ गया था कि किसी तीर्थ के जल में स्नान करने से लोग यह समझते थे कि हम पवित्र हो गये। वस्तुतः शौच क्या है, उसका स्पष्टीकरण भी भगवान् ने कर दिया है—धर्म ही जलाशय है और ब्रह्मचर्य ही शांतिदायक तीर्थ है। उसमें स्नान करने से आत्मा निर्मल और शान्त होती है[९]। उन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि सुबह शाम स्नान करने से ही यदि मोक्ष मिलता है तो जलचर को शीघ्र ही मोक्ष मिलना चाहिए[१०]।

सुख की नई कल्पना

असली बात यह है कि यज्ञ-याग, पूजा-पाठ आदि सब धार्मिक कहे जाने वाले अनुष्ठानों का प्रयोजन सांसारिक वैभव की वृद्धि करना लोग समझते थे। कामजन्य सुख के अतिरिक्त किसी सुख के अस्तित्वकी और उसकी उपादेयता की कल्पना आरण्यक ऋषियों में प्रचलित थी। किन्तु उन आरण्यकों की आवाज आम जनता तक पहुँच पाई न थी। वह कल्पना एक धार्मिक गूढ़ रहस्य था। उसके अधिकारी चुने हुए तपस्वी लोग थे। किन्तु बुद्ध और महावीरने उस धार्मिक गूढ़ रहस्य को जनता में ले जाना अच्छा समझा। उस धर्म-तत्त्व को गुहा के भीतर बंद न करके उसका प्रचार किया।

भगवान् महावीर ने स्पष्ट ही कहा है कि सांसारिक सुख या कामभोगजन्य सुख, सुख नहीं किन्तु दुख है। जिसका पर्यवसान दुःख में हो वह सुख कैसा? काम से विरक्ति में जो सुख मिलता है वह स्थायी है।[११] वही उपादेय

है। सब काम विषरूप हैं, शल्यरूप हैं[१२]। इच्छा अनन्त आकाश की तरह है, जिसकी पूर्ति होना संभव नहीं। लोभी मनुष्य को कितना भी मिले सारा संसार भी उसके अधीन हो जाय, तब भी उसकी तृष्णा का कोई अन्त नहीं[१३]। अतएव अकिञ्चनता में जो सुख है वह कामों की प्राप्ति में नहीं।

जब सुख की यह नई कल्पना ही महावीर ने दी तो क्षणिक सुख-साधनों को जुटा देने वाले उन यज्ञ-यागों का, उन पूजा-पाठों का धार्मिक अनुष्ठान के रूप में कोई स्थान न रहा। उसके स्थान में ध्यान, स्वाध्याय, अनशन, रसपरित्याग, विनय, सेवा इन नाना प्रकार की तपस्याओं का ही धार्मिक अनुष्ठान के रूप में प्रचार होना स्वाभाविक है।

वैश्य-धर्म

वैश्यों को या व्यापारियों को उन्होंने उपदेश दिया कि यह अच्छा नहीं कि तुम अपना वैभव किसी भी प्रकार से बढ़ाओ। वैभव न्यायसंपन्न होना चाहिए इतना ही पर्याप्त नहीं, किन्तु उसका परिमाण—मर्यादा नियत करनी चाहिए। और प्रत्येक दिन यह भावना करनी चाहिए कि वह दिन धन्य होगा जब मैं सर्वस्व का त्याग कर दूँगा। यह दलील कि मैं ज्यादह कमाऊँगा तो ज्यादह दान दूँगा इसलिये किसी भी जायज या ना-जायज तरीके का अवलम्बन करके धन-दौलत प्राप्त करना कोई बुरा नहीं—अपनी आत्मा को पतनोन्मुख ही करती है। भगवान् ने दान की महिमा की है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि दान से बढ़कर कोई चीज संसार में नहीं। उन्होंने कहा है कि जो प्रत्येक मास में लाख गायों का दान देता है उससे भी कुछ भी नहीं देने वाले अकिञ्चन पुरुष का संयम अधिक श्रेयस्कर है[१४]। इसलिये धन-दौलत की अपनी मर्यादा में रहकर ही न्यायसंपन्न मार्ग से कमाई करना और अन्त में सर्वस्व का त्याग कर अकिञ्चन होना यही भगवान् का मार्ग है।

शूद्र-धर्म

शूद्रों को उन्होंने यही उपदेश दिया कि तुम्हारा जन्म भले ही शूद्र कुल में हुआ, किन्तु तुम भी अच्छे कर्म करो तो इसी जन्म में द्विज—सबके पूज्य बन सकते हो। नीच कहे जाने वाले कुल में जन्म कोई बाधक नहीं है।

क्षत्रिय-धर्म

प्रायः क्षत्रिय लोगों का तो यह कार्य है कि पराया माल अपना करके पारस्परिक ईर्षा, द्वेष और शत्रुता को बढ़ा कर आपस में कलह करना। भगवान् भी क्षत्रिय थे। अतएव उन्होंने जैसा क्षत्रियधर्म–संसार में स्थायी शांति की प्रतिष्ठा करने वाला क्षात्रधर्म सिखाया उसका निर्देश भी आवश्यक है।

उनका कहना था कि युद्धमें लाखों जीवों की हत्या करके यदि कोइ अपने आप को विजयी समझता है, तो वह धोखे में है[१५]। मनुष्य बाहरी सभी शत्रु को जीत ले, किन्तु अपने आप को जीतना बड़ा कठिन कार्य है[१६]। स्वयं आत्मा जब तक अविजित रहती है तब तक सब युद्धों की जड़ बनी हुई है[१७]। उसका युद्ध कभी पूरा नहीं हो सकता। वैर-प्रतिवैर की परम्परा बनी रहेगी। आत्मा को जीतने का मतलब क्या है? अपनी पाँचों इन्द्रियों को वश करके जितेन्द्रिय बन जाना, क्रोध को क्षमासे पराजित करना, मान को नम्रता से पराभूत करना, माया का ऋजुता के द्वारा पराभव करना और लोभ को निर्मोह से दबा देना तथा दुर्जय वानर-प्रकृति मनको अपने वश में कर लेना, यही आत्म विजय है[१८]। ऐसे विजय में विश्व जब मस्त बनेगा तब ही स्थायी शांति की प्रतिष्ठा हो सकती है, अन्यथा एक युद्ध को दबाकर नये युद्ध का बीज बोना है।

वीरों की वीरता सुखशीलता के त्याग में और कामनाओं को शान्तकर निरीह होकर विचरण करने में है। निर्दोष प्राणों की हत्या कर वैभव बढ़ाने में पराक्रम करना वह बंधका हेतु है।

अहिंसक मार्ग

भगवान का यह उपदेश सीधा-सादा प्रतीत होता है। किन्तु पालन में उतना ही कठिन है। यही कारण है कि बार-बार होने वाले भयंकर युद्ध के परिणाम देख कर भी लोग युद्ध को छोड़ते नहीं और अहिंसा के मार्ग को अपनाने के बजाय सब झगड़ों के निपटारे का साधन उसी को समझते आये हैं। किन्तु एक-न-एक दिन इन हिंसक युद्धों के तरीकों को छोड़कर भगवान् के बताये उक्त अहिंसक मार्ग का अवलम्बन जन-समुदाय को करना ही होगा। अन्यथा अब तो एटम बंब और उससे भी अधिक विघातक अस्त्रों से अपने नाश के लिये तय्यार रहना चाहिए। जितनी जल्दी अहिंसक-युद्ध में विश्वास किया जायगा उतना ही जल्दी इस मानव-समुदाय का उद्धार है।

टिप्पणी

[यह टिप्पणी वचनामृतका भी काम देगी।]

१. 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो॥'

दशवैकालिक १. १

२. 'जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पाव-कम्मं न बंधई॥' दशवै० ५. ८.

३. 'सोवागकुलसंभूओ गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएसबलो नाम आसि भिक्खू जिइन्दिओ॥'

उत्तरा० १२. १.

४. 'सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई।
सोवागपुत्तं हरिएससाहुं, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा॥'

उत्त० १२. ३७.

५. 'तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि॥'

उत्त० ४. ३.

६. "जो न सज्जइ आगन्तुं पव्वयन्तो न सोयई।
रमइ अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं॥
जायरूवं जहा मिट्ठं, निद्धन्तमलपावगं।
रागदोसभयाईयं, तं वयं बूम माहणं॥
तवस्सियं किसं दन्तं, अवचियमंससोणियं।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं॥
तसपाणे वियाणेत्ता, संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं॥
कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयइ जो उ, तं वयं बूम माहणं॥
चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
न गिण्हइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहणं॥
दिव्वमाणुसतेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं।
मणसा कायवक्केणं, तं वयं बूम माहणं॥

जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥
अलोलुयं मुहाजीवीं, अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम माहणं ॥
जहित्ता पुव्वसंयोगं, नातिसंगे य बंधवे ।
जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहणं ॥
पसुबन्धा सव्ववेया य, जट्ठं च पावकम्मुणा ।
न तं तायंति दुस्सीलं, कम्माणि बलवन्तिह ॥
न वि मुण्डिएण समणो, ओंकारेण न बम्भणो ।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण तावसो ॥
समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो ।
नाणेण उ मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥
कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा"

उत्त० २५, २०.३३ ।

७. 'छज्जीवकाए असमारभंता, मोसं अदत्तं च असेवमाणा ।
परिग्गहं इत्थिओ माणमायं, एयं परिन्नाय चरन्ति दंता ॥
सुसंवुडो पञ्चहिं संवरेहिं, इह जीवियं अणवकंखमाणो ।
वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो, महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं' ॥

उत्त० १२. ४१, ४२ ।

८. 'तवो जोइ जीवो जोइठाणं जोगा सुया सरीरं कारिसंगं ।
कम्मेहा संजम जोगसन्ती होमं हुणामि इसिणं पसत्थं' ॥

उत्त० १२. ४४ ।

९. 'धम्मे हरए बम्भे सन्तितित्थे अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो सुसीइभुओ पजहामि दोसं ॥'

उत्त० १२. ४६ ।

१०. 'उदगेण जे सिद्धिमुदाहरन्ति सायं च पायं उदगं फुसंता ।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी सिज्झिसु पाणा बहवे दगंसि ॥'

सूय० १, १४ ।

११. 'जह किंपागफलाण परिणामो न सुन्दरो ।
एवं भुत्ताण भोगाणं परिणामो न सुन्दरो ॥" उत्त० १५, १७ ।

सव्वं विलवियं गीयं सव्वं नट्टं विडंवणा ।
सव्वे आभरणा भारा सव्वे कामा दुहावहा ॥
वालाभिरामेसु दुहावहेसु न तं सुहं कामगुणेसु रायं ।
विरत्तकामाणं तवोहणाणं जं भिक्खूणं सीलगुणे रयाणं ॥"

उत्त० १३, १६, १७ ।

१२. 'सल्लं कामा विसं कामा कामा आसीविसोवमा ।
कामे य पत्थेमाणा अकामा जन्ति दोग्गइं ॥' उत्त० ९. ५३ ।

१३. 'सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि,
इच्छा उ आगाससमा अणंतिया ॥' उत्त० ९. ४८ ।

'कसिणं पि जो इमं लोगं पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स,
तेणावि से न संतूसे इइ दुप्पूरए इमे आया ॥
जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई ।'

उत्त० ८. १६, १७ ।

१४. 'जो सहस्सं सहस्साणं मासे मासे गवं दए ।
तस्सावि संजमो सेओ अदिन्तस्स वि किंचण ॥" उत्त० ९. ४० ।

१५. 'जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ ॥
अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ ।
अप्पणामेवमप्पाणं जइत्ता सुहमेहए ॥' उत्त० ९. ३४, ३६ ।

१६. 'अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दन्तो सुही होई अस्सिं लोए परत्थ य ॥' उत्त० १. १५ ।

१७. 'न तं अरी कण्ठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पया ।
से नाहई मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥'

उत्त० २०. ४८ ।

१८. 'वरं मे अप्पा दन्तो संजमेण तवेण य ।
माहं परेहि दम्मन्तो बन्धणेहि वहेहि य ॥' उत्त० १. १६ ।
'उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे ।
मायमज्जवभावेण लोभं संतोसओ जिणे ॥' दशवै० ८. ३९ ।

मुद्रक—ओम्प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी । २८५१–०७

जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस-५

के प्रकाशन

१ World Problems and Jain Ethics—
Dr. Beni Prasad —Ans. four.
२. Lord Mahavir—By Dr. Boolchand M. A., Ph. D. Rs. 4-8-0
३. गुजरात का जैन धर्म—मुनि श्री जिनविजयजी — बारह आना
४. जैन ग्रंथ और ग्रंथकार—पं० फतहचंद बेलानी — एक रुपया आठ आना

---

३. विश्व समस्या और व्रत विचार—डॉ० बेनीप्रसाद — चार आना
४. Constitution— — ,,
५. अहिंसा की साधना—श्री काका कालेलकर — ,,
६. १८, २६ परिचय पत्र और वार्षिक कार्य विवरण — चौदह आना
७. Jainism in Kalingadesa—Dr. Boolchand — चार आना
८. भगवान महावीर—श्री दलसुखभाई मालवणिया — दो आना
९. Mantra Shastra and Janism—Dr. A. S. Altekar — चार आना
१०. जैन-संस्कृतिका हृदय—पं० सुखलालजी संघवी — चार आना
११. भ. महावीरका जीवन— ,, — ,,
१२. जैन तत्त्वज्ञान, जैन धर्म और नीतिवाद—
पं० श्री सुखलालजी तथा डॉ० राजबलि पाण्डेय — ,,
१३. आगमयुगका अनेकान्तवाद—श्री दलसुखभाई मालवणिया — आठ आना
१४-१५. निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय—पं० श्री सुखलालजी संघवी — एक रुपया
१६. वस्तुपालका विद्यामंडल—प्रो० भोगीलाल सांडेसरा — आठ आना
१७. जैन आगम—श्री दलसुखभाई मालवणिया — दस आना
१९. गांधीजी और धर्म—पं० सुखलालजी और
दलसुखभाई मालवणिया — दस आना
२०. अनेकान्तवाद—पं० सुखलालजी संघवी — बारह आना
२१. जैन दार्शनिक साहित्यका सिंहावलोकन—
पं० दलसुखभाई मालवणिया — दस आना
२२. राजर्षि कुमारपाल—मुनि श्री जिनविजयजी — आठ आना
२३. जैनधर्मका प्राण—पं० श्री सुखलालजी संघवी — छह आना
२४. हिन्दू, जैन और हरिजन मन्दिर प्रवेश—
श्री पृथ्वीराज जैन M. A. — सात आना
२५. Pacifism & Jainism—Pt. Sukhlalji Sanghvi — आठ आना
२७. जीवन में स्याद्वाद—श्री चंद्रशंकर शुक्ल — बारह आना

जैन संस्कृति संशोधन मण्डल

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

पत्रिका नं० २२

राजर्षि कुमारपाल

लेखक

मुनि श्री जिनविजयजी

आचार्य, भारतीय विद्या भवन, बम्बई

जैन संस्कृति संशोधन मण्डल

1949

Free to Members: For Non-Members—Annas Eight.

मण्डल की ओर से।

१. प्रस्तुत पत्रिका—

भारतीय इतिहास के मर्मज्ञ मुनि श्री जिनविजयजी ने कृपा करके 'राजर्षि कुमारपाल' नामक अपने गुजराती व्याख्यानका हिन्दी अनुवाद छापने की अनुज्ञा जैन संस्कृति संशोधन मण्डल को दी एतदर्थ में उनका आभार मानता हूँ। यह व्याख्यान उन्होंने पाटणमें हैमसारस्वतसत्र के पसंग पर दिया था और वह भारतीय विद्या के प्रथम वर्ष के तीसरे अंक में छपा है। भारतीय इतिहास खासकर जैन इतिहास के अन्वेषकों में मुनिजी का स्थान अद्वितीय है। अतएव उनकी कलम से लिखा हुआ राजर्षि कुमारपाल के धार्मिक जीवन का यह परिचय संक्षिप्त होते हुए भी मुख्य मुख्य ज्ञातव्य घटनाओं का ज्ञान प्रामाणिक रूप से करा सकता है।

जैनधर्म को अंगीकार करके भी राजर्षि कुमारपाल सर्वधर्मसहिष्णु रह सका है इससे उसको धर्मराज अशोक की पंक्ति में सहज ही स्थान मिलता है। इतना ही नहीं किन्तु दक्षिण के वैष्णव और वीरशैव राजाओं जैसी धर्मान्धता को जन्म देने की शक्ति श्रमणधर्म में नहीं है यह भी स्पष्ट होता है। शक्तिसंपन्न राजा होकर भी उसने विधर्मिओं के उच्छेद का नहीं किन्तु उनके उद्धार का मार्ग ग्रहण किया था। आज के हिन्दू-मुसलमानों के आपसी कलह के जमाने में गांधीजी के जीवन की तरह राजर्षि कुमारपाल का जीवन भी सर्वधर्मसहिष्णुता का ही सन्देश देना है। इतिहास का उपयोग यदि भूतकाल के अनुभवों से लाभ उठाने में है तो हम भी राजर्षि कुमारपाल के मार्ग को ग्रहण करके अपना-जीवन प्रशस्त वना सकते हैं।

पू० मुनिजी ने मण्डल को अपना यह व्याख्यान छापने की अनुज्ञा दी एतदर्थ पुनः में आभार मानता हूँ।

२. मंडल के प्रमुख की प्रवृत्ति—

मंडल के प्रमुख श्री डा० बूलचन्द्र जी ने पेरिस म ३१-१-४९ को पहुंचते ही सांस्कृतिक प्रचार का कार्य प्रारंभ कर दिया है।

Les Amis du Buddhisme के तत्त्वावधान में उन्होंने ता० २७ २-४९ के रोज 'भारत में बौद्धधर्म की स्थिति' इस विषय में व्याख्यान दिया। व्याख्यान में उन्होंने सर्वप्रथम भारत के धर्मों की मुख्य दो विचारधारा श्रमण और ब्राह्मण का परिचय कराया। तदनन्तर श्रमणों के मुख्य भेद जैन और बौद्ध का पारस्परिक संबंध बताया। व्याख्यान के बाद वक्ता से प्रवृत्ति और निवृत्ति के विषय में श्रोताओं ने प्रश्न किये। और अन्त में अहिंसा की शक्ति के विषय में चर्चा होकर सभा विसर्जित हुई।

राजर्षि कुमारपाल।

धीरोदात्त नायक

राजा कुमारपाल का जीवन गुजरात के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। केवल गुजरात में ही नहीं बल्कि भारतीय इतिहास में भी उसका विशिष्ट स्थान है। वह एक साधारण नरेश न था। उसमें अनेक असाधारणताएँ विद्यमान थीं। मनुष्य जीवन की ऊँची नीची सभी दशाएँ उसके जीवन में निहित थीं। उसे सुख और दुख की अनेक अनुभूतियाँ हुई थीं। उसका जीवन एक महाकाव्य के समान था जिसमें शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त सभी रसों का परिपाक हुआ था। उसकी जीवन कविता में माधुर्य, ओज और प्रसाद का अनोखा सम्मिश्रण था। देशत्याग, संकट, सहाय-असहाय, क्षुधा-तृषा, भिक्षायाचन, हर्ष, शोक, अरण्याटन, जीवित-संशय, राज्यप्राप्ति, युद्ध, शत्रुसंहार, विजययात्रा, नीति प्रवर्तन, धर्मपालन, अभ्युदयारोहण और अन्त में अनिच्छित भाव से मरण इत्यादि एक महाख्यायिका के वर्णन के लिए आवश्यक सभी रसोत्पादक सामग्री उसके जीवन में विद्यमान थी। काव्य मीमांसकों ने काव्य के लिए जो धीरोदात्त नायक की रम्य कल्पना की है उसका वह यथार्थ आदर्श था। उसका जीवन उत्कर्ष और अपकर्ष का क्रीडाक्षेत्र था। उसका पूर्ण इतिहास हमें उपलब्ध नहीं है। जो कुछ थोड़ी बहुत ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है वह अपूर्ण, अस्त व्यस्त और किञ्चित् अतिशयोक्ति वाली है; तो भी इस सामग्री पर से गुजरातके किसी दूसरे राजा की अपेक्षा अधिक विस्तृत और प्रमाणभूत इतिहास उसका प्राप्त हो सकता है। गुजरात के बाहर भी किसी पुराने भारतीय राजा का इतना विस्तृत जीवनवृत्त प्राप्त नहीं है। इस सामग्री से उसके कुल, वंश, जन्म, बाल्यावस्था, यौवन, देशाटन, संकटसहन, राज्यप्राप्ति, राजशासन, धर्माचरण आदि बातों का यथार्थ परिचय मिलता है। उसके राज्य के प्रधान पुरुषों, मुख्य प्रजाजनों, धर्मगुरुओं और विद्वानों का परिचय भी इस उपलब्ध सामग्री से मिल सकता है। उसके लोकोपयोगी और धर्मोपयोगी कार्यों की रूपरेखा भी इसमें है। यहाँ उसी का दिग्दर्शन कराना चाहता हूँ।

जीवन की सामग्री

ऐतिहासिक दृष्टि से मैं कुमारपाल के राजजीवन का जो रेखाचित्र खींचना चाहता हूँ उसकी सामग्री प्रमाणभूत और सर्वथा विश्वनीय है। इस सामग्री का श्रेय प्रायः कुमारपाल के थोड़े या बहुत संपर्क में आने वाले व्यक्तियों को है। इसमें मुख्य सूत्रधार हैं कुमारपाल के गुरु और गुर्जर विद्वानों के मुकुटमणि आचार्य हेमचन्द्र। हेमचन्द्राचार्य के व्यक्तित्व और कार्य के विषय में बहुत कहा जा चुका है। उसका पुनः कथन और विश्लेषण अनावश्यक है। इन्होंने 'संस्कृतद्व्याश्रय' काव्य के अन्तिम पाँच सर्गों में और 'प्राकृतद्व्याश्रय' के आठ सर्गों में कुमारपाल का काव्यमय जीवन चित्रित किया है। हेमचन्द्रका यह चित्रण कुमारपाल के राज्याभिषेक से प्रारम्भ होता है। इसमें ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख नहीं के बराबर है। फिर भी उसके राजजीवन का रेखांकन करने के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। द्व्याश्रय काव्य में ऊँची उड़ान नहीं है, इसका कारण है ऐसे काव्यों की पद्धति। ऐसे काव्यों में अर्थानुसारी शब्द रचना नहीं होती किन्तु शब्दानुसारी अर्थ रचना होती है। जिस प्रकार के शब्द प्रयोग व्याकरण के क्रम में चले आ रहे हैं उन्होंने उसी प्रकार के शब्दों की रचना के लिए उपयुक्त अर्थों को कुमारपाल के राजजीवन में से चुन लिया और श्लोकबद्ध कर दिया। इतने ही अंशों में इस काव्य का कवित्व है। इसके अतिरिक्त सरसता की दृष्टि से कही जाने वाली कोई विशेष बात उसमें नहीं है। किन्तु हमारे लिए तो प्रस्तुत विषय की दृष्टि से काव्य विभूति की अपेक्षा यह शब्दरचना ही अधिक उपयोगी है।

हेमचन्द्राचार्य द्वारा वर्णित कुमारपाल का दूसरा वर्णन 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र' के अन्तिम 'महावीर चरित्र' में है। इसकी रचना हेमचन्द्राचार्य ने कुमारपाल की प्रार्थना से की थी और यही उनके जीवन की अन्तिम कृति है।

जैन धर्म स्वीकार करने के पश्चात् कुमारपाल ने जो कुछ उसका आचरण किया है उसका बहुत थोड़ा किन्तु सारभूत वर्णन इस ग्रन्थ में है।

हेमचन्द्राचार्य के पश्चात् दूसरी सामग्री 'मोहराजपराजय' नामक नाटक के रूप में है। यह नाटक कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल या अजयदेव के एक मन्त्री मोढवंशीय यशःपाल का बनाया हुआ है और यह गुजरात और मारवाड़ की सीमा पर स्थित थारापद्र—इस समय थराद—नगर के कुमार विहार नामक जैन मन्दिर में महावीर यात्रा-महोत्सव के समय खेला गया था।

कुमारपाल ने जैन धर्म को स्वीकार कर जीवहिंसा, शिकार, जुआ और मद्यपान आदि जिन दुर्व्यसनों का निषेध कराया था उस कथावस्तु को लेकर इस नाटक की रचना हुई है। इस नाटक का संकलन हृदयंगम और कल्पना मनोहर है। इसमें कोई ऐसा स्पष्ट ऐतिहासिक उल्लेख नहीं है किन्तु बहुत सी विशिष्ट बातें ऐसी हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी हो सकती हैं और इसीलिए वे प्रमाणभूत मानी जा सकती हैं।

तीसरी कृति सोमप्रभाचार्य कृत 'कुमारपाल प्रतिबोध' है। कुमारपाल की मृत्यु के ११ वर्ष पश्चात् पाटन में ही कुमारपाल के प्रसिद्ध राजकवि सिद्धपाल के धर्म-स्थान में यह रचना पूर्ण हुई थी। स्वयं हेमचन्द्राचार्य के तीन शिष्य—महेन्द्र, वर्धमान और गुणचन्द्र—ने इस ग्रन्थ को आद्योपांत सुना था। यह ग्रन्थ है तो बहुत बड़ा—करीब १२ हजार श्लोक का किन्तु इसमें ऐतिहासिक सामग्री करीब २००-२५० श्लोक की हैं। इस ग्रन्थकार का उद्देश्य कुमारपाल का जीवन चरित्र लिखने का नहीं था किन्तु हेमचन्द्राचार्य ने जिन धर्मकथाओं द्वारा कुमारपाल को जैन-धर्माभिमुख बनाया था उन्हीं कथाओं को लक्ष्य कर एक कथासंग्रह ग्रन्थ बनाने का था। ग्रन्थकार उसका निर्देश प्रारम्भ में ही कर देते हैं। वे कहते है कि—"इस युग में हेमचन्द्रसूरि और कुमारपाल दोनों असंभव चरित्र वाले पुरुष हुए हैं। इन्होंने जैन धर्म की महान् प्रभावना द्वारा कलियुग में सत्ययुग का अवतार किया है। यद्यपि इन दोनों पुरुषों का जीवन सम्पूर्ण तथा मनोहर है लेकिन मैं सिर्फ जैनधर्म के प्रतिबोध के विषय में ही कुछ कहना चाहता हूँ।" इस प्रकार इस ग्रन्थ का उद्देश्य भिन्न होने के कारण ऐतिहासिक विवरण की विशेष आशा नहीं की जा सकती; तो भी प्रसंग वश इसमें भी कहीं कहीं ऐसा विवरण मिलता है जो कुमारपाल का रेखाचित्र अंकित करने के लिए महत्त्व पूर्ण है।

इन तीनों समकालीन—अथवा जिन्होंने कुमारपाल के राज्य शासन को अच्छी तरह देखा था—ऐसे पुरुषों का ही आधार मैंने इस निबंध में लिया है। यदि कहीं पर उत्तरकालीन कृतियों का आधार लिया गया है तो वह केवल मूल घटना को साधार प्रमाणित करने के लिए।

कुमारपाल का धर्म

हमारे देश के इतिहासमें कुमारपाल के धार्मिक जीवन के विषय में एक प्रकार की अज्ञानता या गैर समझ फैली हुई है। हेमचन्द्राचार्य के उपदेशों से

प्रभावित होकर कुमारपाल ने जैनधर्म को पूर्णतया अंगीकार किया था और वह परमार्हत बना था यह सत्य कथानक संकीर्ण मनोवृत्ति वाले बहुत से अजैन विद्वानों को रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ और इसका खण्डन करने के लिए भ्रमपूर्ण लेखादि लिखे जाते हैं किन्तु उसके जैनत्व की बात उतनी ही सत्य है जितना कि उनका अस्तित्व। इस विषय का विवरण प्रकट करनेवाली सामग्री अपने आप में ही इतनी प्रतिष्ठित है कि उसको सत्य सिद्ध करने के लिए किसी दूसरे सबूत की आवश्यकता नहीं है। यूरोपियन विद्वानों ने तो इस बात को कभी का सिद्ध कर दिया है किन्तु हम लोगों की धार्मिक संकीर्णता बहुत बार सत्य दर्शन में बाधक होती है। इसी कारण हम लोग अनेक दोषों के शिकार हो गए हैं। कुमारपाल जैन हो तो क्या या शैव हो तो क्या—मुझे तो उसमें कोई विशेषता नहीं प्रतीत होती। महत्त्व है तो उसके व्यक्तित्व का। सिद्धराज जैन न था, वह एक चुस्त शैव था, अगर उससे मैं सिद्धराज का महत्त्व न समझूं तो समझ लो कि मेरी सारासार-विवेक-बुद्धि का दिवाला निकल गया है। अमुक व्यक्ति अमुक धर्म का अनुयायी था इतने मात्र से हम उसके व्यक्तित्व को परखने और अपनाने की उपेक्षा करें तो हम अपनी ही जाति-राष्ट्रीयता का अहित करते हैं। शैव हो, या वैष्णव, बौद्ध या जैन हो—धर्म से कोई भी हो—जिन्होंने अपनी प्रजा की उन्नति और संस्कृति में लिए विशिष्ट कार्य किया हैं वे सब हमारे उत्कर्षक और संस्कारक पुरुष थे। ये पुरुष हमारी प्रजा की संयुक्त अचल सम्पत्ति है। अगर इनके गुणों का यथार्थ गौरव हम लोग न समझें तो हम उनकी अयोग्य प्रजा सिद्ध होंगे। शैव, बौद्ध, जैन ये सारे मत एक ही आर्यतत्त्वज्ञान रूपी महावृक्ष की अलग अलग दार्शनिक शाखाओं के समान हैं। वृक्ष की विभूति उसकी शाखाओं से ही है और जब तक वृक्ष मौजूद है उसमें शाखा-प्रशाखाएँ निकलती ही रहेंगी। शाखा-प्रशाखाओं का उद्गम बन्द हो जाना वृक्ष के जीवन का अन्त है। धर्मानुयायी और मुमुक्षु सब पक्षियों के समान हैं जो शान्ति और विश्रान्ति के लिए इस महावृक्ष का आश्रय ग्रहण करते हैं। जिस पक्षी को जो शाखा ठीक और अनुकूल प्रतीत हो वह उसी का आश्रय लेता है और शान्ति प्राप्त करता है। जिस प्रकार एक पक्षी अनुकूल न होने पर एक शाखा छोड़ कर दूसरी शाखा का आश्रय लेता है उसी प्रकार विचारशील मानव भी अरुचिकर धर्म को त्याग कर धर्मान्तर ग्रहण करता है और मनःसमाधि प्राप्त करता है। कुमारपाल ने भी मनःसमाधि प्राप्त करने के लिए ही धर्म परिवर्तन किया था। सात्त्विक रूप से किया गया धर्म परिवर्तन दोष रूप नहीं, गुण रूप होता है। ऐसे धर्म परिवर्तन से नवीन बल और उत्साह

का संचार होता है। प्रजा की मानसिक और नैतिक उन्नति होती है। जैन धर्म को स्वीकार कर कुमारपाल ने जो प्रजा का अनन्य कल्याण किया था वह दूसरी तरह से करना संभव न था। उसके धर्मपरिवर्तन ने प्रजा के पारस्परिक विद्वेष को कम किया और सामाजिक उत्कर्ष को आगे बढ़ाया। वस्तुतः उस जमाने में आज के समान धर्मपरिवर्तन की संकुचित विचार श्रेणी नहीं थी। सामाजिक दृष्टि से धर्मपरिवर्तन कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है। गुजरात के अनेक प्रतिष्ठित कुटुंबों में जैन और शैव दोनों धर्मों का पालन किया जाता था। किसी घर में पिता शैव था तो पुत्र जैन, किसी घर में सास जैन थी तो वधू शैव। किसी गृहस्थ का पितृकुल जैन था तो मातृकुल शैव और किसी का मातृकुल जैन था तो पितृकुल शैव। इस प्रकार गुजरात में वैश्य जाति के कुलों में प्रायः दोनों धर्मों के अनुयायी थे। इसलिए इस प्रकार का धर्मपरिवर्तन गुजरात के सभ्य समाज में बहुत सामान्य सी बात थी। राज के कारोबार में भी दोनों धर्मानुयायियों का समान पद और उत्तरदायित्व था। किसी समय जैन महामात्य के हाथ में राज्य की बागडोर आती तो कभी शैव महामात्य के हाथ में। लेकिन इससे राजनीति में किसी पुकार का परिवर्त्तन नहीं होता था। शैवों और जैनों की कोई अलग अलग समाज रचना नहीं थी। सामाजिक विधि-विधान सब ब्राह्मणों द्वारा ही नियमानुसार संपन्न होते थे। शैव कुटुम्बों और जैन कुटुम्बों की कुल-देवी एक ही थी और उनका पूजन-अर्चन दोनों कुटुम्ब वाले कुल परम्परानुसार एक ही विधि से मिल कर करते थे। इस प्रकार सामाजिक दृष्टि से दोनों में भी अभेद ही था। सिर्फ धर्मभावना और उपास्य देव की दृष्टि से थोड़ा सा भेद था। शैव अपने इष्टदेव शिव की उपासना और पूजा-सेवा करते, जैन अपने इष्ट-देव जिन की पूजा-अर्चना करते। शिवपूजकों के कुछ वर्गों में मद्यमांस त्याज्य नहीं माना जाता था परन्तु जैनों में यह वस्तु सर्वथा त्याज्य मानी जाती थी। कोई भी अगर जैन होता तो उसका अर्थ यही होता था कि उसने मद्यमांस का सेवन त्याग दिया है और इसका त्याग कर उसने जीवहिंसा न करने का मुख्य जैन मत लिया है। शैव और जैन दोनों मुख्य रूप से गुजरात के प्रजा धर्म थे। तो भी सामान्य रूप से राजधर्म शैव ही माना जाता था और गुजरात के राजाओं के उपास्य देव शिव थे। राजपुरोहित शिवधर्मी नागर ब्राह्मण और राजगुरु शिवोपासक तपस्वी थे। किन्तु अणहिलपुर के संस्थापक वनराज चावड़ा से लेकर कर्णवाघेल तक गुजरात के हिन्दू राज्य काल में, जैन धर्म के अनुयायियों का सामजिक दर्जा सब से ऊँचा था। प्रजावर्ग में जैन प्रतिष्ठित अग्रणी थे।

राज्य शासन में उनका हिस्सा सबसे अधिक था। इससे राजाओं के शैव होने पर भी जैन धर्म पर उनकी आदर दृष्टि रहती थी। विद्वान् जैन आचार्य राजाओं के पास निरन्तर आते रहते थे और राजा लोग भी अपने गुरुओं के समान ही उन्हें आदर देते थे। कई बार तो राजकुटुम्बों में से भी कोई जैन धर्म की संन्यास दीक्षा धारण करता था। अनेक राजपुत्र जैन आचार्यों क पास शिक्षा ग्रहण करते थे। इस प्रकार राजा लोग जैनों के साथ सब प्रकार से निकट सम्बन्ध में रहते थे। उससे इनके मनमें धर्म-सम्बन्धी किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं रहता था। शैव धर्म का आदर्श प्रतिनिधि सिद्धराज भी जैनों से काफी सम्बन्धित था। सिद्धपुर में रुद्र महालय के साथ-साथ उसने 'रायविहार' नामक आदिनाथ का जैन मन्दिर भी बनवाया था। गिरनार पर्वत पर नेमिनाथ का जो मुख्य जैन-मन्दिर आज विद्यमान है वह भी सिद्धराज की उदारता का ही फल है। सोमनाथ की यात्रा के साथ उसने गिरनार और शत्रुञ्जय तीर्थ की भी उसी भाव से यात्रा की थी। शत्रुञ्जय तीर्थ का खर्च चलाने के लिए उसने बारह गांव उसके साथ लगा देने के लिए अपने महामात्य अश्वाक को आज्ञा दी थी। इससे प्रतात होता है कि सिद्धराज के हृदय में जैन-धर्म के लिए तुच्छ भावना नहीं थी। उसमें और कुमारपाल में जो अन्तर था वह यही कि सिद्धराज अपने मन में शैव धर्म को मुख्य मानता था और जैन धर्म को गौण; कुमारपाल अपने पिछले जीवन में जैन-धर्म को मुख्य मानने लगा था। सिद्धराज के इष्टदेव अन्त तक शिव ही थे किन्तु कुमारपाल के इष्टदेव पिछले जीवन में जिन थे। उसने जिन को देव और आचार्य हेमचन्द्र को गुरु, आप्त पुरुष और कल्याणकारी माना थी। इसी प्रकार अहिंसा प्रबोधक धर्म को अपना मोक्षदायक धर्म मान कर श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया था। इस तरह वह जैन-धर्म का एक आदर्श प्रतिनिधि बन गया था। इतनी पूर्वभूमिका के बाद अब मैं कुमारपाल के राज जीवन का रेखाचित्र उपस्थित करना चाहता हूँ।

अशोक और कुमारपाल—

कुमारपाल का राजजीवन कई बातों में मौर्य सम्राट् अशोक से मिलता जुलता है। राजगद्दी पर आरूढ होने पर जिस प्रकार सम्राट् अशोक को अनिच्छा से प्रतिपक्षी राजाओं के साथ लड़ना पड़ा उसी प्रकार कुमारपाल को भी अनिच्छा से प्रतिपक्षी राजाओं के साथ लड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। राजसिंहासनारोहण के बाद तीन साल तक अशोक का शासन अस्त व्यस्त

रहा। यही हाल कुमारपाल का भी था। जिस प्रकार अशोक ७—८ वर्ष तक शत्रुओं को जीतने में व्यग्र रहा उसी प्रकार कुमारपाल को भी इतने ही समय तक शत्रुओं के साथ युद्ध करने में लगा रहना पड़ा। इस तरह आठ दस वर्ष के युद्धोपरान्त जीवन के शेष भाग में जिस प्रकार अशोक ने प्रजा की नैतिक और सामाजिक उन्नति के लिए कई राजाज्ञाएं निकालीं और राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखने का प्रयत्न किया था, उसी प्रकार कुमारपाल ने भी किया। जिस प्रकार अशोक पहले शैव और फिर बौद्ध हो गया उसीप्रकार कुमारपाल भी पहले शैव था फिर जैन हो गया। अशोक के समान ही कुमार पाल ने भी जैन धर्म के प्रचार के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। जिस प्रकार अशोक ने बौद्ध-धर्म प्रतिपादित शिक्षाएँ तथा उच्च धार्मिक नियमों को स्वीकार कर 'परमसुगतोपासक' की पदवी धारण की उसी प्रकार कुमारपाल ने भी जैन-धर्म प्रतिपादित गृहस्थ के जीवन को आदर्श बनाने वाले आवश्यक अणु-व्रतादि नियमों को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करके 'परमार्हत' का पद प्राप्त किया। अशोक के समान ही प्रजा को दुर्व्यसनों से हटाने के लिए कुमारपाल ने कई राजाज्ञाएँ निकाली थीं। अशोक के बौद्ध स्तूपों की भांति कुमारपाल ने भी कई जैन विहारों का निर्माण कराया।

निर्वंश के धन का त्याग—

इन सबके उपरान्त कुमारपाल ने एक विशेष कार्य किया था। प्राचीन काल की राजनीति के अनुसार लावारिस पुरुष की सम्पत्ति उसके मरने के बाद राजा की हो जाती थी और इस कारण मरने वाले की माता स्त्री आदि आश्रित जन अनाथ होकर भटकते थे तथा मृत्यु से भी अधिक दुःख भोगते थे। इस क्रूर राजनीति से कई अबलाएँ जीवित रहने पर भी मरी हुई के समान थीं। जले पर नमक छिड़कने वाली इस प्रथा को कुमारपाल ने अपने राज्य में एक आदेश निकाल कर बन्द कर दिया। कदाचित् ऐसा कार्य अशोक ने भी न किया हो।

कुमारपाल को इस नीति की निष्ठुरता का पता किस भांति चला उसका वर्णन हेमचन्द्राचार्य अपने द्वयाश्रय में इस प्रकार करते हैं—

रात्रि के समय जब राजा अपने महल में सो रहा था तब उसे दूर से एक स्त्री का बहुत करुण क्रन्दन सुनाई पड़ा। इस बात को जानने के लिए चौकीदार के नील वर्ण वस्त्र धारण कर राजा महल से निकला और कोई न पहचान ले इस

तरह धीरे-धीरे उस करुण रुदन की तरफ चलता गया। वह जाकर क्या देखता है कि पेड़ के नीचे एक स्त्री गले में फन्दा डाल कर मरने की तैयारी कर रही है और रो भी रही है। राजा ने धीरे से उसके पास जाकर आदर पूर्वक मधुर वचनों से पूछा कि क्या बात है। विश्वास पाकर स्त्री ने कहा—'मेरे पतिदेव इस शहर में परदेश से व्यापार करने के लिए आए थे और मैं भी उनके साथ थी। इस सुवासित शहर में हम लोगों ने व्यापार करते करते बहुत सम्पत्ति इकट्ठी कर ली। इसी बीच में मैंने एक पुत्र को जन्म दिया। हम लोगों ने उसका भरण-पोषण किया। उसे शिक्षित बनाया। योग्य उम्र में एक अच्छे कुल की लड़की के साथ उसका पाणिग्रहण करा दिया। जब मेरा पुत्र बीस वर्ष की अवस्था का हुआ तब उसके पिता स्वर्ग सिधार गए और उनके शोक से पुत्र इतना विह्वल हो गया कि वह भी थोड़े दिनों बाद मुझे अनाथ बनाकर पिता के मार्ग पर चला गया। अब मेरी सारी सम्पत्ति नियमानुसार राज्य की सम्पत्ति हो जायगी और मेरा जीवन बरबाद हो जायगा। मैं उस करुण अवस्था को नहीं देखना चाहती इसीलिए मरना चाहती हूँ।' राजा स्त्री के इस कथन को सुन कर करुणार्द्र हो उठा और उसको आश्वासन देते हुए कहने लगा—'माता! तुम अपने घर जाओ और इस तरह अपना अपघात मत करो। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि राजा तुम्हारी सम्पत्ति नहीं लेगा। तुम अपने धन से यथेष्ट दान पुण्य करके अपना कल्याण करो।' इतना कह कर राजा अपने महलों की ओर चल दिया और सवेरा होने पर मन्त्रियों को बुला कर अपने राज्य में यह घोषणा करने की आज्ञा दी कि 'प्राचीन जमाने से चली आई यह राज्य प्रथा, कि लावारिस पुरुष की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति राज्य की हो जायगी, बन्द की जाती है और आज से यह राजाज्ञा जाहिर की जाती है कि ऐसी संपत्ति कोई भी राज्य का कर्मचारी न ले।' राजा की आज्ञानुसार मन्त्रियों ने इस आज्ञापत्र की घोषणा सारे राज्य में करा दी और मृतक धन लेना बन्द कर दिया। प्रबन्ध कर्ताओं के अनुमान से इससे राज्य में एक करोड़ की आमदनी थी परन्तु राजा ने इसका तनिक भी लोभ न करते हुए इस अधर्म और प्रजापीड़क प्रथा को हमेशा के लिए बन्द कर दिया।

मन्त्री यशःपाल ने अपने नाटक में इससे भी बढ़कर हृदयङ्गम वर्णन किया है। हेमाचार्य ने तो अमुक घटना को लक्ष्य में रख कर ही काव्य की पद्धति के अनुसार सिर्फ सूचना मात्र की है। यशःपाल ने उसमें कई ऐतिहासिक घटनाओं को भी अन्तर्निहित किया है। यह नाटक एक रूपक है इसलिए इसमें ज्यादा

वास्तविकता का न होना तो स्वाभाविक ही है। यशःपाल का वर्णन इस प्रकार है—एक दिन जब राजा अपने स्थान पर बैठा हुआ था उसने एक विशाल मकान से स्त्री का करुण रुदन सुना। थोड़ी देर बाद नगर के चार महाजनों ने आकर राजा से निवेदन किया कि नगर का कुबेर नामक एक कोट्यधीश निःसन्तान मर गया है इसलिए उसकी सम्पत्ति लेने के लिए अधिकारी पुरुष भेजिए और हम लोगों को उसकी अन्त्येष्टि क्रिया करने की आज्ञा प्रदान किजिए। सेठ की मृत्यु के समाचार सुन कर राजा बहुत उद्विग्न होता है और जीवन की अस्थिरता का गम्भीर विचार करने लगता है साथ ही साथ मृतक के कुटुम्ब की करुण दशा और राज्य की क्रूर नीति का बीभत्स चित्र देखता है।

आशाबन्धादहह सुचिरं संचितं क्लेशलक्षैः
केयं नीतिर्नृपतिहतका यन्मृतस्वं हरन्ति।
क्रन्दन्नारीजघनवसनाक्षेपपापोत्कटानाम्
आः किं तेषां हृदि यदि कृपा नास्ति तत्किं त्रपाऽपि॥

राजा कुछ विचार कर कहता है कि मैं वहीं आता हूँ। तत्पश्चात् राजा पालकी में बैठ कर राजभवन से भी अधिक सुशोभित और विशाल कुबेर के भवन के पास आया। महल के ऊपर कोट्यधीशता का सूचन करने वाली नाना प्रकार की ध्वजाएं फहरा रही थीं। एक दरवाजे पर शहरके सैकड़ों सेठ शोक-विह्वल दिखाई पड़ रहे थे और घर के अन्दर से रुदन का करुण स्वर आ रहा था घर के बाहर खड़े हुए सेठों को देख कर राजा ने अग्रणी सेठ से पूछा कि सबलोग बाहर क्यों खड़े हुए हैं। सेठ का उत्तर था कि हम लोग राजा की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। राजा ने कहा कि इसमें राजाज्ञा की क्या आवश्यकता है? सेठ ने उत्तर दिया—'राजनियमानुसार जब राज्याधिकारी सारी सम्पत्ति को अपने अधिकार में कर ले उसके बाद में घर में जाना चाहिए अन्यथा दण्ड के भागी होंगे। राजा पालकी से उतर कर घर में जाता है और सेठ उसकी सारी ऋद्धि-समृद्धि का परिचय कराता है। राज महलों में भी अलभ्य वस्तुएं सेठ के मकान में पाकर राजा आश्चर्य चकित हो गया। तत्पश्चात् राजा कुबेर की माता के पास जाकर बैठता है और कुबेर की मृत्यु के बारे में सारी हकीकत पूछता है? कुबेर के एक मित्र सारी हकीकत कहते हैं-'परदेश का व्यापार चलाने के लिए कुबेर पाटन से भरूच गया था और वहाँ से ५०० नावों में माल भर कर परदेश चला गया था। वहाँ पर सारा माल बेच कर ४ करोड़ रुपये का लाभ प्राप्त किया। वहाँ से स्वदेश आते समय रास्ते में एक भयंकर तूफान आया और

उससे सब नावें नष्ट भ्रष्ट हो गई और कुछ इधर उधर भटकती भरूच बंदरगाह पर पहुँची। कुवेर का हाल क्या हुआ यह अभी तक पता नहीं लगा इसीलिए यह ऐसा प्रसंग उपस्थित हुआ है।' राजा यह सब सुन कर सहानुभूति पूर्ण स्वर से कुवेर की माता को आश्वासन देता है—माता इस तरह अविवेकी की तरह शोक से विह्वल मत बनो!

आकीटाद्यावदिन्द्रं मरणमसुमतां निश्चितं बान्धवाना-
सम्बन्धश्चैकवृक्षोषितबहुविहगव्यूहसांगत्यतुल्यः।
प्रत्यावृत्तिर्मृतस्योपलतलनिहितप्लुष्टबीजप्ररोह-
प्रायः प्राप्येत शोकात् तदयमकुशलैः क्लेशमात्मा मुधैव॥

माता उत्तर देती है—पुत्र! सब समझती हूँ लेकिन पुत्र का मृत्यु शोक सब विस्मरण करा देता है। राजा कहता है कि माता! मैं भी तुम्हारा ही पुत्र हूँ इसलिए शोक करना अच्छा नहीं है। इतने में राज्य के नौकरों ने कुवेर के घर का सारा धन इकट्ठा करके राजा के सामने ढेर लगा दिया। राजा उसका निषेध करता हुआ महाजनों से कहता है कि मैं आज से मृतजनों का धन राजभण्डार में लेने का निषेध करता हूँ। यह कितनी अधम नीति है कि जो मनुष्य अपुत्र मर जाय उसके धन हड़पने की इच्छा रखने वाले राजा उसके पुत्रत्व को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं। राजा वहां से महल में आकर मंत्रियों द्वारा सारे शहर में घोषणा करवाता है कि—

निःशङ्कैः शकितं न यन्नृपतिभिस्त्यक्तुं क्वचित् प्राक्तनैः
पत्न्याः क्षार इव क्षते पतिमृतौ यस्यापहारः किल।
आपाथोधि कुमारपालनृपतिर्देवो रुदत्या धनं
बिभ्राणः सदय प्रजासु हृदयं मुञ्चत्ययं तत् स्वयम्॥

कवि प्रतिभा से चित्रित इस चित्र में नामनिर्देश भले ही काल्पनिक हो परन्तु यह सारा चित्र काल्पनिक नहीं है। इसमें वर्णित घटना अनैतिहासिक नहीं है। इस घटना के अनुरूप अवश्य ही कोई घटना घटी होगी। यह चित्र कुमारपाल की महानुभावता को उत्तमरूप में प्रतिबिम्बित करता है।

इस प्रकार मृत-स्वमोचन द्वारा प्रजाहित का कार्य करके कुमारपाल ने उस कीर्ति को प्राप्त किया जिसे सत्ययुग में होने वाले रघु, नहुष, नाभाक और भरत आदि परम धार्मिक राजा भी प्राप्त नहीं कर सके। इसी से प्रसन्न होकर आचार्य हेमचन्द्र उसकी प्रशंसा करते हैं—

न यन्मुक्तं पूर्वैं रघु-नहुष-नाभाक-भरत
प्रभृत्युर्वीनाथैः कृतयुगकृतोत्पत्तिभिरपि ।
विमुञ्चन् सन्तोषात् तदपि रुदतीवित्तमधुना
कुमारक्ष्मापाल ! त्वमसि महतां मस्तकमणिः ॥
अपुत्राणां धनं गृह्णन् पुत्रो भवति पार्थिवः ।
त्वं तु सन्तोषतो मुञ्चन् सत्यं राजपितामहः ॥

गुजरात का यह सर्वोपरि आदर्श राजा था । यह जैसा वीर, नीतिनिपुण और दुर्धर्ष था वैसा ही संयमी, धर्मपरायण और सौम्य भी था । उसमें अनुभव की विशालता के साथ साथ गंभीर तात्त्विक बुद्धि भी कम न थी । वह त्यागी के साथ मितव्ययी और पराक्रमी के साथ क्षमावान् भी था ।

सिद्धराज और कुमारपाल

गुजरात के साम्राज्य के दो ही सर्वोत्कृष्ट प्रभुत्वशाली राजा हुए सिद्धराज और कुमारपाल । दोनों के पराक्रम और कौशल से गुजरात का गौरव चरम सीमा पर पहुँच गया था । प्रबंधकारों का कहना है कि सिद्धराज में ९८ गुण थे और दो दोष और कुमारपाल में ९८ दोष और २ गुण । ऐसा होने पर भी कुमारपाल श्रेष्ठ था । सिद्धराज ने गुजरात के नागरिकों के लिए महास्थान बसाये तो कुमारपाल ने उनका संरक्षण करने के लिए दुर्गों का निर्माण कराया । सिद्धराज ने गुजरात के पराक्रम का गुंजन करने वाली महायात्राएं की तो कुमारपाल ने उन यात्राओं की अमरता के लिए महाप्रशस्तियों की रचना करवाई । सिद्धराज ने गुजरात के गौरवधाम गिरनार के ऊपर महातीर्थ की स्थापना की तो कुमारपाल ने गुजरात के आबाल वृद्धों की यात्रा सुलभ बनाने के लिए सीढ़ियों का निर्माण कराया । सिद्धराज ने अगर गुजरात की अस्मिता के महालयों का निर्माण किया तो कुमारपाल ने उन महालयों पर स्वर्णकलश और ध्वज दंड चढ़ाकर उन्हें सुप्रतिष्ठित किया । कुमारपाल गुजरात की गरिमा का सर्वोपरि शिखर था । इसके समय में गुजराती विद्या और विभुता में, शौर्य और सामर्थ्य में, समृद्धि और सदाचार में, धर्म और कर्म में, उत्कृष्टता पर पहुँच गये थे । उसके राज्य में प्रकृतिकार वैश्य भी महान् सेनापति हुए, द्रव्यलोलुप वणिग्जन भी महाकवि हुए और ईर्षापरायण ब्राह्मण तथा निन्दा परायण श्रमण भी परस्पर मित्र हुए । व्यसनासक्त क्षत्रिय भी संयमी साधक बने और हीनाचारी शूद्र धर्मशील बने ।

धर्मसहिष्णुता

उत्साहपूर्वक धर्म परिवर्तन के पश्चात् भी धर्मसहिष्णुता जितनी उसके राज्य में थी वैसी किसी के राज्य में दृष्टिगोचर नहीं हुई। कदाचित् भारत के प्राचीन इतिहास में यह एक ही पहला और अन्तिम उदाहरण होगा कि हेमचंद्र जैसा जैन धर्म का महान् आचार्य शिव मंदिर में श्रद्धालु शैव की तरह—

यत्र तत्र समये यथा तथा
योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुषः स चेद् भवान्
एक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ॥

ऐसी अद्‌भुत कल्पना और अनुपम रचना द्वारा शिव की स्तुति करता है। गंड बृहस्पति जैसा महान् शैव मठाधीश जैनाचार्य के चरणों में वन्दन करके—

चतुर्मासीमासीत्तव पदयुगं नाथ ! निकषा
कषायप्रध्वंसाद् विकृतिपरिहारव्रतमिदम्।
इदानीमुद्‌भिद्यन्निजचरणनिर्लोठितकले—
र्जलक्लिन्नैरन्नैर्मुनितिलक ! वृत्तिर्भवतु मे ॥

ऐसी स्तुति द्वारा एक सुशिष्य की भांति अनुग्रह की याचना करता है।

इतिहास के सैकड़ों प्रबधो में खोजने पर यह एक ही राजा ऐसा मिलता है जो कुल परंपरा प्राप्त 'उमापतिवरलब्धप्रौढप्रताप' बिरुद में अभिमान करता हुआ भी स्वरुचि स्वीकृत 'परमार्हत' बिरुद से अपने को कृतकृत्य मानता है। जिस आदरभाव से वह सोमेश्वर पुण्यधाम का जीर्णोद्धार करता है उसी आदर से पड़ोस में पार्श्वनाथ के जैन चैत्य की भी स्थापना करता है। कुमारपाल गुजरात की गर्वोन्नत राजधानी अणहिलपुर में शंभुनाथ के निवासार्थ कुमारपालेश्वर और पार्श्वनाथ के लिए कुमारविहार नामक दो मंदिरों का निर्माण एक दूसरे के समीप ही करता है। इससे बढ़कर धार्मिक सहिष्णुता का उदाहरण मिलना कठिन है।

कुमारपाल स्वभाव से ही धार्मिकवृत्ति वाला था, इससे उस में दया, करुणा परोपकार, नीति, सदाचार और संयम को वृत्तियों का विकास उच्च प्रकार का हुआ था। उसमें से बहुत से गुण पैतृक ही होने चाहिए। उसके प्रपिता के पिता क्षेमराज ने-जो पराक्रमी भीमदेव का ज्येष्ठ पुत्र और सिद्धराज के पिता भोगपरायण कर्ण का ज्येष्ठ भ्राता था, पिता द्वारा दी गई राजगद्दी को अस्वीकार कर अपने छोटे भाई कर्ण को राज दे दिया और स्वयं मंडूकेश्वर तीर्थ में जाकर तपस्वी

के रूप में शंकर की उपासना में लीन रहते हुए जीवन सफल बनाया। उसका पुत्र देवप्रसाद भी राजकाज की झंझटों से दूर रहकर स्वयं पिता का अनुकरण करता रहा और जिस समय विलासी कर्ण का असमय में अवसान हुआ तो वह इतना उद्विग्न हो उठा कि सजीव देह से चिता में प्रवेश किया। कुमारपाल का पिता त्रिभुवनपाल भी एक सदाचारी और धर्मपरायण क्षत्रिय था। सिद्धराज के लिए वह अत्यन्त आदरप्राप्त पुरुष था। उसके नीतिपरायण जीवन का प्रभाव सिद्धराज के स्वच्छन्द जीवन पर अंकुश का काम करता था। इस प्रकार कुमारपाल कोअपने पूर्वजों से उत्तम गुणों की अमूल्य निधि मिली थी। हेमचन्द्र जैसे महान् साधु पुरुष के सत्संग से वह धर्मात्मा राजर्षि की लोकोत्तर पदवी के महान् यश का उपभोक्ता हुआ। हेमचन्द्रसूरि ने उसके यश को अमर बनाने के लिए, 'अभिधान चिन्तामणि' जैसे प्रमाणभूत शब्दकोश के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में उसके लिए—

> कुमारपालश्चौलुक्यो राजर्षिः परमार्हतः।
> मृतस्वमोक्ता धर्मात्मा मारिव्यसनवारकः॥

ऐसे उपनाम ग्रथित कर सार्वजनिक संस्कृत वाङ्मय में उसके नाम को शाश्वत बना दिया।

श्रमणोपासक कुमारपाल

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि कुमारपाल अपने अंतिम जीवन में एक जैन राजा था। उसने जैनधर्म प्रतिपादित उपासक अर्थात् गृहस्थ—श्रावक धर्मका दृढ़ता के साथ पालन किया था। ऐतिहासिक काल में कुमारपाल के सदृश जैन धर्म का अनुयायी राजा शायद ही कोई हुआ हो। जैन साहित्य में तो बहुत से राजाओं को जैन बनाने का जिक्र आता है। उदाहरण के तौर पर उज्जयिनी का विक्रमादित्य, प्रतिष्ठानपुर का सातवाहन, वलभी का शिलादित्य, मान्यखेट का अमोघवर्ष, गोपगिरि का आमराज इत्यादि राजा जैन थे। धर्म के अनुरागी थे। लेकिन ये सब राजा अगर जैन धर्म के अनुरागी बने होंगे तो इतने ही अर्थ में कि उन्होंने जैन धर्म और उनके अनुयायियों में अपना सविशेष अनुराग या पक्षपात बताया होगा। समय समय पर जैन गुरुओं को सबसे ज्यादा आदर प्रदान किया होगा और उनके उपदेश से प्रभावित हो कुछ जैन मन्दिरों आदि का निर्माण कराया होगा। कुछ उससे आगे बढ़कर वर्ष के अमुक दिनों या महीनों में जीवहिंसा प्रतिबंधक राजाज्ञाएँ निकाली होंगी और स्वयं भी मद्यमांस का सेवन न करने की प्रतिज्ञा की होगी। लेकिन कुमारपाल के समान गृहस्थ धर्म के आदर्श रूप सम्पूर्ण बारह व्रतों को तो किसी ने अंगीकार नहीं किया होगा।

उसके द्वारा अंगीकार किये गए उन द्वादश व्रतों का सविस्तर वर्णन जैन प्रबंधों में उदाहरणों के साथ दिया गया है। उदाहरणों में कुछ अतिशयोक्ति भले ही हो लेकिन मूल बात मिथ्या नहीं है यह विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है और जो बात स्वयं हेमचन्द्र ही लिखते हैं उसमें असत्य को अवकाश ही कहाँ? मन्त्री यशःपाल और सामप्रभाचार्य की जिन कृतिओं का परिचय मैंने ऊपर दिया है उनके वर्णनों से यह प्रतीत होता है कि कुमारपाल ने विक्रम संवत् १२१६ में हेमचन्द्राचार्य के पास सकल जन समक्ष जैन धर्म की गृहस्थ दीक्षा धारण की थी इस दीक्षा के धारण करते समय उसने मुख्य रूप से ये प्रतिज्ञाएँ ली थी:—

राज्यरक्षा निमित्त युद्ध के अतिरिक्त यावत् जीवन किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी, शिकार नहीं खेलना। मद्य और मांस का सेवन नहीं करना। प्रतिदिन जिन प्रतिमा की पूजा अर्चना करना और हेमचन्द्राचार्य का पदवन्दन करना। अष्टमी और चतुर्दशी के दिन सामायिक और पौषध आदि विशेष व्रतों का पालन करना; रात्रि को भोजन न करना इत्यादि इत्यादि।

अमारी घोष

ऐसी प्रतिज्ञाएँ लेने के पश्चात् उसने अपने राज्य में, दूसरे लोगों को भी धर्म के मोटे नियमों का पालन करवाने के लिए घोषणा करवाई थी। उसमें सब से मुख्य आज्ञा थी जीवहिंसा प्रतिबंध की। हमारे देश में बहुत प्राचीन काल से दो कारणों से हिंसा होती आ रही है: एक है धर्म के निमित्त अर्थात् यज्ञयागादि धार्मिक कर्मकाण्ड और देवी देवताओं की बली के निमित्त, और दूसरी भोजन के निमित्त। कुमारपाल ने इन दोनों प्रकार की जीवहिंसा का निषेध करने के लिए राजाज्ञाएँ जाहिर कीं। हेमचन्द्राचार्य के द्व्याश्रय काव्य में आए हुए वर्णन से प्रतीत होता है कि मांसाहार के निमित्त होने वाली जीवहिंसा का निषेध तो कुमारपाल ने कदाचित् श्रावक धर्म के व्रतों को अंगीकार करने के पहले ही कर दिया था। शाकम्भरी के चाहमान राजा अर्णोराज और मालवा के परमार राजा बल्लालदेव को पराजित करने के पश्चात् एक दिन कुमारपाल ने रास्ते में किसी दीन दरिद्र ग्रामीण मनुष्य को कुछ बकरे कसाई खाने की ओर ले जाते देखा। उससे पूछताछ की और उस वस्तुस्थिति का ज्ञान होने पर उस पामर मनुष्य और उन पशुओं की ऐसी दशा देखकर राजा के मन में बोधिसत्त्व के समान करुणाभाव उत्पन्न हुआ। उसके मन में यह विचार आया कि ये लोग दुष्ट जाति वाले और कुत्तों के समान धर्म विमुख हैं।

वे अपने इस पापी पेट के लिए प्राणियों का हनन करते हैं। वास्तव में इसमें शासन करने वाले का ही दोष है। चूंकि यथा राजा तथा प्रजा। मुझे धिक्कार है कि मैं सिर्फ अपने शरीर के लिए प्रजा से कर लेता हूँ लेकिन प्रजा की रक्षा के लिए नहीं। इत्यादि विचार कर उसने अपने अधिकारियों को आज्ञा दी कि मेरे राज्य में जो कोई भी जीवहिंसा करे उसको चोर और व्यभिचारी से भी अधिक कठोर दण्ड दिया जाय।

आर्य प्रजा के जो लोग मांसाहारी हैं वे भी जीवहिंसा को घृणास्पद तो मानते ही हैं क्योंकि दयामूलक धर्म की भावना हमारी प्रजा में कई सदियों से रूढ़ हो गई है। 'अहिंसा परमो धर्मः' का सिद्धान्त भारत के सभी धर्म थोड़े बहुत अंश में स्वीकार करते हैं। इससे मांसाहारी मनुष्य जिह्वा इन्द्रिय की लोलुपता के कारण राजाज्ञा को मन से भले ही अप्रिय समझते हों तो भी प्रकट रूपसे उसका विरोध करने की नैतिक हिम्मत नहीं कर सकते। इसलिए वे बोल नह सकते। लेकिन धर्म के बहाने जीवहिंसा करने वालों की स्थिति अलग ही होती है। उनकी हिंसा को धर्मशास्त्रों का, सनातन परंपरा का, रूढ़ियों का और जनता में व्याप्त अन्धश्रद्धा का यथेष्ट समर्थन प्राप्त होता है। इससे राजाज्ञा के विरुद्ध वे कुछ विरोध प्रकट करें तो सर्वथा अपेक्षित ही है। परन्तु गुजरात की कुछ सामाजिक विशेषताओं के कारण तथा तत्कालीन जैनों के सामाजिक प्रभुत्व के कारण इस वर्ग की ओर से भी इस आज्ञा का विरोध नहीं हुआ और कुमारपाल को विशेष उपद्रव का सामना नहीं करना पड़ा। किन्तु विरोध का सर्वथा अभाव भी न था। कुछ प्रबन्धकारों के कथन से प्रतीत होता है कि पाटण की अधिष्ठात्री कण्टेश्वरी माता के राजपुजारियों ने कुमारपाल को अपने निश्चय में एक बार डावाँडोल कर दिया था। उन्होंने बताया था कि नवरात्रि में नगर देवी की पशुबलि द्वारा पूजा होनी चाहिए नहीं तो देवी कुपित होगी और उसके कोप से राजा और राज्य पर भयानक आपत्ति आ जायगी। राजा ने अपने महामात्य वाग्भट्ट से, जो कुल परंपरा से जैन था, इस विषय में सलाह मांगी। महामात्य चाहे कितना भी शूर वीर और राजनीतिज्ञ हो आखिर था तो वणिक् ही। कहीं ऐसा न हो कि देवी वास्तव में कुपित हो जाय तथा राजा और राज्य पर कोई आफत आ पड़े। इससे धर्म और जाति दोनों की भारी अपकीर्ति होगी। इस तरह की कितनी ही कल्पनाओं के वशीभूत हो उसने चतुरता से अस्पष्ट स्वर और अव्यक्त भाव से कहा कि 'देव! दीयते' अर्थात् पशुबलि तो दी जाती है ऐसी स्थिति में क्या किया जाए। लेकिन

कुमारपाल तो क्षत्रिय था। 'प्राण जाय पर वचन न जाई' इन संस्कारों का पार्थिवपिण्ड था। संसार के सामने ली हुई प्रतिज्ञा और जाहिर की गई आज्ञाओं का भङ्ग क्षत्रिय कैसे होने दे। प्रतिज्ञा पालन के गौरव के सामने, क्षत्रिय के हृदय में जिन्दगी और सम्पत्ति तृण के समान है। महामान्य वाग्भट्ट का अर्द्धदग्ध उद्गार सुन कर कुमारपाल खिलखिला उठा और मर्म युक्त स्वर से बोला—'मन्त्रिन् वणिगसि यदेवं ब्रूषे'—महामात्य! वणिक् हो इससे ऐसा बोलते हो। भले ही राज्य और जिन्दगी सब नष्ट हो जायँ परन्तु ली हुई प्रतिज्ञा नहीं टूट सकती।

राजा की इस व्याकुल दशा का हेमचन्द्रसूरि ने अपनी अद्भुत कुशलता और व्यावहारिक बुद्धि से एक अच्छा और सरस हल निकाल लिया। उसने 'एक पन्थ दो काज' वाली कहावत सिद्ध की। अपनी उस अद्भुत कला का मन्त्र धीरे से उसने राजा के कान में फूंक दिया और राजा हर्ष से गद्गद् हो उठा। बलिपूजा के अवसर पर राजा थोड़े पशुओं को साथ लेकर माता कण्टेश्वरी के मन्दिर में पहुँचा और पुजारियों से कहने लगा कि मैं ये पशु माता को बलि चढ़ाने के लिए लाया हूँ। मैं इनको माता के सामने जिन्दा रखता हूँ। अगर माता को इनके मांस की आवश्यकता होगी तो वह स्वयं ही अपना भक्ष्य ले लेगी आप लोगों को भक्ष्य को तैयार करने का परिश्रम उठाने की आवश्यकता नहीं है। यह कह कर राजा ने माता के मन्दिर में पशुओं को भर दिया और बाहर से ताला लगा दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल राजपरिवार के साथ राजा आया और हजारों लोगों की उपस्थिति में माता के मन्दिर का दरवाजा खोलकर देखा तो पता चला कि रात्रि को बन्द किये हुए पशु मन्दिर के प्रांगण में शान्ति से जुगाली कर रहे हैं। माता ने एक का भी भक्षण नहीं किया। राजा ने सबके सामने उपदेश दिया कि—'माता को पशुओं के मांस की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। उसको इनकी भूख नहीं है। अगर उसको भूख होती तो इन पशुओं का निश्चय रूप से उसने भक्षण किया होता। इससे पता चलता है कि माता के बदले ये पुजारी इन पामर पशुओं के मांस के भूखे हैं। लेकिन यह भूख अब मेरे राज्य में नहीं चल सकती। यह कह कर राजा ने देवी देवताओं के निमित्त होने वाली जीवहिंसा का भी समूल उच्छेद कर दिया

कुमारपाल की इस अहिंसा प्रवर्तक साधना की सफलता देख कर ब्राह्मण पण्डित श्रीधर एक विशेष प्रसंग पर हेमाचार्य की स्तुति करता हुआ कहता है कि—

पूर्वं वीरजिनेश्वरे भगवति प्रख्याति धर्मं स्वयं
प्रज्ञावत्यभयेऽपि मन्त्रिणि न यां कर्तुं क्षमः श्रेणिकः।
अक्लेशेन कुमारपालनृपतिस्तां जीवरक्षां व्यधात्
यस्यासाद्य वचस्सुधां स परमः श्री हेमचन्द्रो गुरुः ॥

अर्थात्—जिसको साक्षात् भगवान महावीर जिनधर्म का बोध करने वाले थे और अभयकुमार जैसा प्रज्ञावान् पुत्र स्वयं मन्त्री था वह राजा श्रेणिक भी जो जीवरक्षा न कर सका वह जीवरक्षा, जिनके वचनामृतों का पान करके कुमारपाल अनायास ही साध सका, वे हेमचन्द्र वास्तव में एक महान् गुरु हैं।

स्वयं आचार्य हेमचन्द्र भी, उक्त महावीरचरित्र नामक पुराणग्रन्थ में महावीर के मुख से कुमारपाल के विषय में भविष्यकथन रूप से वर्णन करते हुए लिखते हैं कि—

पाण्डुप्रभृतिभिरपि त्यक्ता या मृगया नहि।
स स्वयं त्यक्ष्यति जनः सर्वोऽपि तदाज्ञया ॥
हिंसानिषेधके तस्मिन् दूरेऽस्तु मृगयादिकम्।
अपि मत्कुटयूकादि नान्त्यजोऽपि हनिष्यति ॥
तस्मिन्निषिद्धे पापार्द्धावरण्ये मृगजातयः।
सदाऽप्यविघ्नरोमन्था भाविन्यो गोष्ठधेनुवत् ॥
जलचरस्थलचरखेचराणां स देहिनाम्।
रक्षिष्यति सदामारिं शासने पाकशासनः ॥
ये चाजन्मापि मांसादास्ते मांसस्य कथामपि।
दुःस्वप्नमिव तस्याज्ञावशान्नेष्यन्ति विस्मृतिम् ॥

भगवान् महावीर अपने शिष्यों से कहते हैं कि—भविष्य में कुमारपाल राजा होने वाला है उसकी आज्ञा से सब मनुष्य मृगया का त्याग करेंगे। जिस मृगया को पांडु के सदृश धर्मिष्ठ राजा भी त्याग न कर सके और न करवा सके। हिंसा का निषेध करने वाले इस राजा के समय में शिकार की बात तो दूर रही खटमल और जूं जैसे जीवों को अन्त्यज भी दुःख नहीं पहुँचा सकेंगे। इस प्रकार मृगया के विषय में निषेधाज्ञा होने पर मृग आदि पशु भी निर्भय होकर बाड़े में गायों की तरह चरने लगेंगे। इस प्रकार जलचर प्राणियों, पशुओं और पक्षियों के लिए वह सदा अमारि रखेगा और उसकी ऐसी आज्ञा से आजन्म मांसाहारी भी दुःस्वप्न की तरह मांस को भूल जाएँगे।

कुमारपाल की ऐसी अमारिप्रिय वृत्ति देखकर उसके पड़ोसी और अधीन राजाओं ने भी अमारि प्रवर्तन की उद्घोषणा करने के लिए कई आज्ञाएं जाहिर की थीं जिसके प्रमाण में कई शिलालेख मारवाड़ की पहली सरहद से मिलते हैं।

कुमारपाल की इस अहिंसा प्रवर्तक नीति का यह फल है कि वर्तमान में जगत् में सबसे ज्यादा अहिंसक प्रजा गुजराती प्रजा है और सबसे अधिक परिमाण में अहिंसा धर्म का पालन गुजरात में होता है। गुजरात में हिंसक यज्ञ-याग प्रायः तभी से बन्द हो गए हैं और देवी देवताओं के लिए होने वाला पशु-वध भी दूसरे प्रान्तों की तुलना में गुजरात में बहुत कम है। प्रायः गुजरात का संपूर्ण शिष्ट और उच्च समाज चुस्त निरामिषभोजी है। गुजरात का प्रधान किसान वर्ग भी मांसत्यागी है। भले ही अतिशयोक्ति हो और उसका उपहास भी हो परन्तु मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि इसी पुण्यमय परम्परा के प्रताप से जगत् के सबसे श्रेष्ठ अहिंसामूर्ति महात्मा को जन्म देने का अद्वितीय गौरव भी गुजरात को प्राप्त हुआ है।

मद्यपान का निषेध

जीवहिंसा के साथ साथ दूसरी जिन पाप प्रवृत्तियों का कुमारपाल ने अपनी प्रजा में निषेध कराया था उनमें मुख्य मद्यपान की प्रवृत्ति थी। मद्य मनुष्य जाति का एक बहुत बड़ा शत्रु है, यह सब जानते हैं। पौराणिक काल में यादवों का नाश भी मद्यपान से ही हुआ था ऐसा पुराणों में वर्णन आता है। ऐतिहासिक काल में भी मद्यपान के कारण अनेक सम्राट् और उनके साम्राज्य नष्ट होने के उदाहरण यथेच्छ प्राप्त हो सकते हैं। वर्तमान में क्षत्रिय जाति का जो भयंकर पतन हुआ है और हो रहा है, उसमें मद्य का ही सबसे ज्यादा हाथ है। हमारी गरीब और परिश्रमी जनता की जो इतनी अवनत दशा हुई है उसमें मद्य भी एक मुख्य कारण है, यह हम लोग अच्छी तरह जानते हैं। मद्य के इस बुरे असर को लक्ष्य में रख कर मध्यकाल में कितने ही मुसलमान सम्राटों ने इसका तीव्र निषेध किया था; उससे इतिहास के पाठक अपरिचित नहीं है। अमेरिका जैसे भौतिक संस्कृति के उपासक राष्ट्र ने भी इस बीसवीं सदी में इस उन्मादक मद्यपान को रोकने के लिए राजाज्ञा का कठोर उपयोग किया है।

प्रबन्धगत प्रमाणों से प्रतीत होता है कि कुमारपाल जैनधर्मानुयायी होने से पहले मांसाहार तो करता था लेकिन मद्यपान की तरफ उसे हमेशा से घृणा रही है। यहाँ तक कि उसके कुल में भी यह वस्तु त्याज्य समझी जाती थी।

हेमचन्द्र के योगशास्त्र में आये हुए एक उल्लेख से प्रतीत होता है कि चौलुक्य कुल में मद्यपान ब्राह्मण जाति की तरह ही निन्द्य था।

चौलुक्यों के पुरोगामी चावड़े पूरी तरह से मद्यपायी थे। स्वयं अणहिल्-पुर के संस्थापक वनराज को मद्य बहुत प्रिय था। उसके पीछे भी उसके द्वारा निर्माण कराये गये अणहिलपुर के राजमहलों में मदिरा देवी का खूब सत्कार होता था और उसी का यह परिणाम हुआ कि यादवों की भांति चावड़ा वंश का भी नाश हो गया। यह मोहराजपराजय नाटक के कर्त्ता मन्त्री यशःपाल अप्रकटरूप से बताते हैं। अंतिम चावड़ा राजा सामंत सिंह का राजसिंहासन किस भांति चौलुक्यवंश के प्रतिष्ठाता मूलराज के हाथ में आया, उसका सारा विवरण प्रबन्धचिन्तामणि में दिया है। उससे भी चावड़ों के मद्यपान की बात स्पष्ट रूप से मिलती है।

जुए का निषेध

मद्यनिषेध के साथ जुआ खेलने की मनाही भी कुमारपाल ने उतनी ही सख्ती से की थी। द्यूत को लेकर पांडव जैसों को भी कितना कष्ट भोगना पड़ा था और उसी प्रकार नल जैसे राजा पर कैसी आपत्ति आई थी,—ये सब कथाएँ कुमारपाल ने हेमचन्द्रसूरि से कई बार सुनी थीं और स्वयं भी आसपास के लोगों में इसका कुपरिणाम देखा था। इसलिए उसने द्यूत क्रीड़ा पर भी प्रति-बन्ध लगा दिया। यशःपाल मन्त्री के कथन से प्रतीत हाता है कि उस समय लोगों में जुए का दुर्व्यसन अत्यधिक फैला हुआ था। बड़े बड़े राजपुरुष भी इस व्यसन में फंसे हुए थे। ऐसे राजपुरुषों में से कुछ लोगों का स्पष्ट निर्देश भी किया गया है जो बहुत ही उपयोगी है। इस निर्देश के अनुसार मेवाड़ के राजकुमार, सोरठ के राजा का भाई, चन्द्रावती का अधिपति, नाडोल के राजा का दौहित्र, गोधरा के राजा का भतीजा, धारा के राजा का भानजा, शाकंभरी के राजा का मामा, कोंकण के राजा का सौतेला भाई, कच्छक के राजा का साला, मारवाड़ के राजा का दौहित्र और खुद चालुक्य नृपति अर्थात् कुमारपाल का कोई पितृव्य जैसे व्यक्ति थे। इस उल्लेख से प्रतीत हाता है कि अणहिलपुर के सम्राट् की सेवा में रहने वाले सारे अधीन राजाओं के प्रतिनिधि इस व्यसन में पूरी तरह आसक्त थे। निकम्में बैठे हुए इन लागों को दूसरा और काई क्या काम हो सकता था। प्रतिदिन नियत किये हुए दो तीन घण्टे राजा के दरबार में वे उपस्थित हों और अपनी हाजिरी दे दें। उसके उपरान्त शांति के समय

में ऐसे राज प्रतिनिधियों को कोई काम न था। इसलिए उनका समय ऐसे ही दुर्व्यसनों में खर्च होता था। आज भी ऐसे लोगों में ऐसी ही स्थिति हम पाते हैं। इसी द्यूत को लेकर जुआरियों में आपस में अनेक प्रकार के भयंकर कलह होते थे, मारामारी होती थी और नाना प्रकार के अश्लील कार्य होते थे। कुमारपाल को यह वस्तुस्थिति अच्छी तरह मालूम थी। ऐसे दुष्परिणामों से प्रजा को बचाने के लिए उसने द्यूतनिषेध की राजाज्ञा जाहिर की थी।

वेश्याव्यसन की उपेक्षा

इस प्रकार जिस राजनीति को कुमारपाल ने चलाया उसमें एक मुख्य बात नजर नहीं आती, वह है वेश्याव्यसन के विषय में। कुमारपाल को इसकी कल्पना तो होनी ही चाहिए। मद्य और द्यूत की भांति यह व्यसन भी प्रजा दृष्टि से उतना ही अनिष्टकारी है और धर्मशास्त्रों में भी इसकी अनिष्टता भली भांति वर्णित है। कुमारपाल ने, चाहे कुछ भी कारण हो, इस व्यसन की उपेक्षा की थी। मोहराजपराजय नाटक में इस विषय में भी एक निर्देश मिलता है। उपरोक्त प्रकार से जब कुमारपाल ने सब दुर्व्यसनों का बहिष्कार कराया तब वेश्याव्यसन को भी भय लगा; परन्तु राजा उसकी उपेक्षा करता हुआ कहता है कि 'वेश्याव्यसनं तु वराकमुपेक्षणीयम्। न तेन किञ्चिद् गतेन स्थितेन वा'—अर्थात् बेचारे वेश्या व्यसन की तो उपेक्षा करनी चाहिए; इसके रहने और जाने में कुछ भी नहीं है। यह निर्देश गुजरात की उस समय की वेश्याविषयक स्थिति पर प्रकाश डालता है। उस समय समाज में दूसरे व्यसनों की भांति वेश्या-व्यसन बहुत निंद्य नहीं समझा जाता था। समाज के शिष्ट कहलाने वाले वर्ग के साथ वेश्याओं का बहुत सम्बन्ध रहता था। उसी प्रकार वेश्याओं की स्थिति भी आज की भांति हलकी और व्यभिचार पोषक न थी। वेश्याओं का स्थान समाज में एक प्रकार उच्च समझा जाता था। राज दरबार में हमेशा उनकी उपस्थिति रहती थी। देव मन्दिरों में भी नृत्य संगीत आदि के लिए उनकी उपस्थिति आवश्यक समझी जाती थी। व्यक्तिगत और सार्वजनिक महोत्सवों में भी उनका स्थान पहल रहता था। कला और कुशलता की वे शिक्षिका मानी जाती थीं। लक्ष्मीदेवी के कृपापात्र राजपुत्रादि उनसे कला का अभ्यास करते थे। अनेक राजा ऐसी कलाधाम वेश्याओं को अपनी प्रियतमा भी बनाते थे। स्वयं कुमारपाल का पितृ कुल भी ऐसी एक वेश्यावर्ग में से अवतीर्ण कलानिधि राजरानी की संतति था उसके दरबार में भी यह वेश्यावर्ग काफी परिमाण में और अच्छी स्थिति में

विद्यमान था। इसलिए उनकी प्रवृत्तियों के विषय में किसी भी प्रकार का विधि निषेध करने का कुछ भी विचार नहीं किया होगा।

इस प्रकार कुमारपाल ने जैनधर्म में दीक्षित होकर जैन सिद्धान्तों के अनुसार कई स्थूल धार्मिक और नैतिक नियम जाहिर किये और प्रजा द्वारा इन नियमों का पालन कराने के लिए पूरी सावधानी रखी थी। हेमचन्द्राचार्य ने कहा है कि उसने अहिंसा के आदेश का पालन कराने के लिए पूरी सावधानी रखी थी। हेमचन्द्राचार्य ने कहा है कि उसके अहिंसा के आदेश का पालन करने के लिए अन्त्यज भी जू माकड़ आदि की हत्या नहीं करते थे। इस कथन में भले ही अतिशयोक्ति होगी लेकिन राजा इस विषय में पूरा पूरा सतर्क था इसमें तो शंका है ही नहीं। प्रबन्ध में जो एक यूकाविहार मन्दिर बंधवाने का इतिहास मिलता है उससे इस बात की पुष्टि होती है।

कुमारपाल ने इस प्रकार के नैतिक कार्य करने के उपरांत जैन धर्म के प्रचार और प्रसार के लिए जगह जगह सैकड़ों मन्दिरों का निर्माण कराया था। शत्रुंजय और गिरनार जैसे जैनतीर्थों की यात्रा बड़े शाही ठाठ के साथ संघ निकाल कर की थी। वह राजधानी में प्रति वर्ष बड़े बड़े जैन महोत्सवों का भी आयोजन किया करता था और दूसरे शहरों में भी महोत्सवों के आयोजन की प्रेरणा प्रदान करता था।

राजर्षि की दिनचर्या

वह राजकाज को नियमित रूप से देखता रहता था। उसकी दिनचर्या व्यवस्थित थी। विलास या व्यसन का उसके जीवन में कोई स्थान न था। वह बहुत दयालु और न्यायपरायण था। अंतर से वास्तव में मुमुक्षु था और ऐहिक कामनाओं से उसका मन उपशांत हो गया था। राजधर्म समझ कर वह राज्य की सब प्रवृत्तियाँ देखता था लेकिन उनमें उसकी आसक्ति न थी। उसकी दिन चर्या के संबंध में हेमचन्द्राचार्य ने 'प्राकृतद्वयाश्रय' काव्य में और सोमप्रभाचार्य ने 'कुमारपाल प्रतिबोध' नामक ग्रन्थ में जो बताया है उससे पता लगता है कि—वह प्रातः काल सूर्योदय के पहले ही शय्या त्याग करके सबसे प्रथम जैनधर्म में मंगलभूत अरिहंत, सिद्ध, आचार्यादि पाँच नमस्कार पदों का स्मरण करता था। तदुपरान्त शरीरशुद्धि की क्रिया वगैरह से निवृत्त होकर अपने राजमहल में गृहचैत्य में पुष्पादि से जिन प्रतिमा की पूजा करके स्तवन के साथ पञ्चांग नमस्कार करता था। वहाँ से निकल कर वह तिलकावसर नामक मण्डप में जाकर

सुकोमल गद्दी पर बैठता था। वहाँ उसके सामने दूसरे सामंत राजा आकर बैठते थे और पास में चामर धारण किये हुए वारांगनाएँ खड़ी रहती थीं। उसी समय राजपुरोहित या दूसरे ब्राह्मण आकर आशीर्वाद देते थे और उसके मस्तक पर चन्दन का तिलक करते थे। तत्पश्चात् ब्राह्मणों से तिथिवाचन सुन कर उन्हें दान देकर बिदा करता था और तुरंत ही फर्यादें सुनाता था। यह कार्य समाप्त कर वह राजमहलों की ओर जाता और वहाँ अपनी माता और माता के समान ही राजवृद्धाओं को नमस्कार करके आशीर्वाद प्राप्त करता था। तदनन्तर फल-फूल आदि से राजलक्ष्मी की पूजा करवाता था और दूसरे देवी देवताओं की जो प्रतिमाएँ राजमहल में थीं, उनकी स्तुति वगैरह कराता था। वृद्ध स्त्रियों को सहायतार्थ धन बाँटता था। उसके बाद व्यायाम शाला में जाकर व्यायाम से निपट कर स्नान करके वस्त्रालंकार धारण करता था और फिर राजमहल के बाहर के भाग में आता था। वहाँ पर पहले से ही सवारी के लिए सुसज्जित राज गज पर आरूढ़ हो, समस्त सामंत, मन्त्री आदि के परिवार सहित, अपने पिता के पुण्यनामांकित 'त्रिभुवनपाल विहार' नामक महाविशाल और अतिभव्य जैनमन्दिर की ओर, जिसको उसने करोड़ों रुपये खर्च करके बनवाया था, दर्शन और पूजा करने जाता था। जिस समय वह जिनमूर्ति का अभिषेक कराता था उस समय रङ्गमण्डप में वारांगनाएँ आडम्बर के साथ नृत्य और गान करती थीं। जिन मन्दिर में पूजाविधि समाप्त करके वह हेमचन्द्राचार्य के चरण वंदन करता और चन्दन, कपूर और स्वर्ण कमलों द्वारा पूजा करता। उनके मुख से यथावसर धर्मबोध सुनकर वहाँ से राजमहल की ओर लौट जाता था। लौटते समय वह हाथी पर न चढ़ कर घोड़े पर सवार होता था। और अपने स्थान पर पहुँचता था। तदनन्तर याचकों आदि को यथायोग्य दान देकर भोजन करता था। उसका भोजन बहुत ही सात्त्विक होता था। जैन धर्म के अनुसार वह बहुत बार ऐकाशन आदि तप करता था और हरे शाकादि स्वादिष्ट पदार्थों का त्याग करता था। भोजनापरान्त वह आरामगृह में बैठता था और वहां प्रसंगवश विद्वानों के साथ शास्त्र और तत्त्व सम्बन्धी चर्चा करता था।

तीसरे पहर वह अपने शाही ठाठ के साथ राजमहलों से शहर के राजमार्गों में होता हुआ बाहर घड़ी दो घड़ी उद्यान क्रीड़ा करने जाता था। उस उद्यान को संस्कृत में राजवाटिका गुजराती में रायवाड़ी और राजस्थानी भाषा में रेवाड़ी कहते हैं। संध्या समय वह वहाँ से राजमहल की ओर लौटता और महलों में आकर देव की आरती आदि का संध्याकर्म करता। तत्पश्चात् वाराङ्गनाओं

के नृत्य और गान एक पाट पर बैठ कर सुनता था। स्तुतिपाठक और चारणलोग उसकी खूब स्तुति करते थे। वहाँ से वह सर्वावसर नामक मुख्य सभा-मण्डप में आकर सिंहासन पर बैठता था। सभी राजवर्गीय और प्रजावर्गीय सभाजन उपस्थित होते थे। राजा और राज्य कल्याण के लिए राजपुरोहित द्वारा मन्त्र पाठ हो जाने पर चामर धारण करने वाली स्त्रियें आसपास चामरादि उपकरण धारण करके खड़ी हो जाती थीं। तदुपरान्त मङ्गलवाद्य बजते थे और दूसरी स्त्रियें अपने अपने अपने काम के लिए उपस्थित होती थीं। तत्पश्चात वारांगनाएं राजा के वारणे लेती थी और दूसरे सामन्त एवं अधीन राजा हाथ जोड़ कर खड़े रहते थे। राजा के सन्मुख राज्य के दूसर महाजन; जैसे श्रेष्ठिवर्ग, व्यापारी, प्रधान ग्रामजन आदि आकर बैठते थे। परराज्यों के जो दूत आते थे वे दूरी पर सबसे पीछे बैठते थे। नीराजना विधि पूरी होने के पश्चात् वारांगनाएँ एक तरफ बैठ जाती थीं और सम्पूर्ण सभा एकाग्र हो राज्य कार्य की प्रवृत्ति देखती थी। राज्य कार्य में सबसे पहले सान्धिविग्रहिक अर्थात् विदेश मंत्री (Foreign minister) परराज्यों के संबंधों की कार्यवाही निवेदन करता था। किस राजा के साथ क्या संधि हुई है, कौन से राजा ने क्या इष्ट, अनिष्ट किया है, किसके ऊपर फौजें भेजी है, किन फौजों ने क्या किया है, कौन शत्रु मित्र होता है—इत्यादि परराज्यों के साथ संबंध रखने वाली सब बातें निवेदन करता था। राजा यह सब सुन कर उस संबंध में उपयुक्त विचार करता था। तत्पश्चात् दूसरी सारी राज्य कार्यवाही होती थी, उसको सुन कर यथायोग्य विचार करता और अन्त में सभाविसर्जित कर यथावसर शयनागार में जाकर शय्याधीन होता था। जैन धर्म के व्रतों को स्वीकार करने पश्चात् वह बहुत वार ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता था और पूर्णरूप से एकपत्नीव्रतधारी था। इस विषय में वह पहले से ही बहुत सदाचारी था। इसी कारण तदाश्रित समस्त राजवर्गीय जनों में उसका बहुत प्रभाव था।

इस तरह कुमारपाल की दिनचर्या नियत थी। विशेष अवसरों पर इस दिनचर्या में जो फेरफार होता था वह प्रासंगिक होता था। प्रजाजनों के आनन्द के लिए गजयुद्ध या मल्लयुद्ध और ऐसे ही दूसरे खेलों का कार्यक्रम जब होता था। उस समय राजा अपने राजवर्ग के साथ वहाँ बैठता था और खेलों को देखता था और अपने कार्यक्रम में फेरफार करता था। रथयात्रा आदि धार्मिक उत्सवों में भी वह इसी प्रकार भाग लेता था। कुछ पर्व दिवसों के प्रसङ्ग पर रात्रि में मन्दिरों में नाट्य प्रयोग या संगीतोत्सव होते थे उनमें भी वह उपस्थित रहता था।

विद्या प्रेम

कुमारपाल के जीवन पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि वह सिद्धराज जितना प्रतिभाशाली और विद्यारसिक तो न था तो भी बुद्धिमान् तो था ही। उसे युवावस्था में विद्याप्राप्ति का अवसर ही कहाँ मिला था? उसकी युवावस्था का मुख्य भाग सिद्धराज से अपने को बचाने के लिए भटकने और कष्ट सहने में ही व्यतीत हुआ था। पचास वर्ष की उम्र में उसके भाग्य का परिवर्तन हुआ और वह गुज़रात के विशाल साम्राज्य का भाग्यविधाता बना। राज्यप्राप्ति के पश्चात् भी उसके ५-६ वर्ष तो विपक्षियों को जीतने में ही गये अर्थात् ५६-५७ वर्ष की अवस्था में उसका सिंहासन स्थिर हुआ और उसके प्रताप का सूर्य सहस्रकिरण के समान तपने लगा। इस उम्र में अध्ययन के लिए कितना अवकाश मिल सकता था! प्रबन्धकार कहते हैं कि इतना होने पर भी अवसर मिलने पर अति परिश्रम करके संस्कृत का उसने अच्छा अभ्यास कर लिया था और उससे वह विद्वानों की तत्त्वचर्चा में यथेष्ट भाग ले सकता था। हेमचन्द्राचार्य के द्वारा उसी के लिए बनाये गये योगशास्त्र और वीतरागस्तोत्र का वह प्रतिदिन स्वाध्याय करता था। योगशास्त्र में हेमचन्द्र द्वारा किये गये उल्लेख से प्रतीत होता है कि उसे योग की उपासना प्रिय थी और उससे उसने कई योगशास्त्रों का परिशीलन किया था। 'त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र' नामक ग्रन्थ जो तीर्थंकर आदि के जीवन पर प्रकाश डालता है, हेमचन्द्राचार्य ने कुमारपाल की खास प्रेरणा से ही बनाया था, यह तो ऊपर बता दिया गया है। इससे प्रतीत होता है कि उसे ऐसे ग्रन्थ पढ़ने का शौक था। कदाचित् प्राचीन बातें जानने की जिज्ञासा बहुत परिमाण में उसके अन्दर विद्यमान थी। राज्यप्राप्ति के पहले एक बार जब यह भटकता भटकता चित्तौड़ के किले पर जा पहुँचा तो वहाँ पर स्थित एक दिगम्बर विद्वान से उसने किले के विषय में सारी हकीकत पूछी थी। उसी प्रकार राज्य-प्राप्ति के पश्चात् जब उसने एक बड़ा संघ लेकर गिरनार की यात्रा की थी और जूनागढ़ में दशदशार मंडप आदि प्राचीन स्थल देखकर उसने उस विषय में हेमचन्द्राचार्य से प्राचीन विवरण बताने की विज्ञप्ति की थी।

आचार्य हेमचन्द्र का प्रभाव

भावुक होने के कारण ही वह इस प्रकार की धार्मिक वृत्ति में दृढ़ श्रद्धाशील बना था। हेमचन्द्र के प्रति उसकी अनन्य भक्ति थी इसके कारण थे—प्रवासी

दशा में हेमचन्द्र की प्रेरणा से प्राप्त खंभात के मंत्री उदयन की सहायता, हेमचन्द्राचार्य द्वारा भविष्य में उसे राज्यगद्दी मिलने का विश्वास दिलाना, निराश जीवन को आशांकित बनाना और राज्य प्राप्ति के पश्चात् भी आचार्य द्वारा उसको समय समय पर अपनी विद्या शक्ति के बल से आश्चर्य चकित करना। उसके प्रभाव को लेकर यह हेमचन्द्र का अनन्य अनुरागी हो गया था। ज्यों ज्यों आचार्य से उसका विशेष मिलना जुलना होता रहा और उसके चारित्र, ज्ञान, तप, आदि के बल से उसका विशिष्ट परिचय होता गया त्यों त्यों वह आचार्य का श्रद्धालु शिष्य होता गया। जब उसे यह विश्वास हो गया कि आचार्य का जीवन ध्येय केवल परोपकार वृत्ति है और इतने बड़े सम्राट से भी दो सूखी रोटी प्राप्त करने की भी इनकी अभिलाषा नहीं है तब तो उसने अपने सम्पूर्ण आत्मा को आचार्य के चरणों में समर्पित कर दिया और इस महर्षि के आदेश से स्वयं भी राजर्षि बन गया।

राजनीति निपुण—

कुमारपाल बड़ा पराक्रमी पुरुष था तो भी मिथ्या महत्त्वाकांक्षी न था। इसका साम्राज्य विस्तार सहज ही इतना हो गया था। साम्राज्य विषय में उसकी नीति आक्रमणात्मक नहीं बल्कि रक्षणात्मक थी। परराज्यों पर उसे परि-स्थितियों से बाध्य होकर ही चढ़ाई करनी पड़ी। वह महत्त्वकांक्षी न था तो भी स्वाभिमानी तो था ही। जहाँ आत्मसम्मान को थोड़ी सी ही ठेस पहुँचती थी वह उसे सहन नहीं कर सकता था और राजनीति का भी पूर्ण अनुभवी था। जिस मनुष्य के विशेष प्रयत्न से इसने राजगद्दी प्राप्त करने का सौभाग्य मिला था और जो उसका एक सगा बना हुआ था, ऐसे कान्हडदेव को भी, जब उसकी पूर्वावस्था को उपलक्ष्य कर उपहास करता देखा तब उसका तत्काल गात्रभङ्ग कराकर निर्जीव बना दिया और उसी प्रकार दूसरे कांटों का भी तत्काल जीवित नाश करवा दिया। पूर्वावस्था में भले ही वह रङ्क की तरह भटका हो परन्तु अब भाग्य ने उसे राजा बनाया है और वह भाग्यदत्त राज्य का रक्षण अपने शमशेर के बल से करने में समर्थ है, यह स्वाभिमान उसके पौरुष में परिपूर्ण था और इस अभिमान का प्रभाव बताने के लिए उसने अपने आप्तजनों को नष्ट करने में भी देर नहीं की। इसके विपरीत जिस साजण कुम्हार ने एक समय उसे कांटों के ढेर में छिपाकर सिद्धराज के सैनिकों से रक्षा की थी, राज्य मिलते ही उसे अपनी सेवा में बुलाकर उसके उपकार के बदले सात सौ गाँव के पट्टे वाले चितोड़ की

वार्षिक आमदनी उसके लिए निश्चित कर दी। उसका ऐसा वर्ताव देख कर अन्दर के विरोधी थर्रा गये और सारा विरोधभाव छोड़ कर उसकी अनन्य सेवा करने लगे। ऐसे विरोधियों में चाहड़ नामक का एक कुलीन राजकुमार अग्रणी था जो राज्य की सेना में बहुत माना जाता था और जिसे सिद्धराज ने अपने पुत्र की तरह पाला पोषा था। वह कुमारपाल का सान्निध्य छोड़ कर शाकम्भरी के गर्विष्ठ राजा अर्णोराज की सेवा में चला गया और उसे कुमारपाल के विरुद्ध खड़ा करके उसी राज्य की जड़ को उखाड़ने के लिए गुजरात की सीमा पर लड़ाई के मोर्चे खड़े किये। कुमारपाल के भविष्य के लिए यह अत्यन्त विषम परिस्थति थी। उसके सामन्तों में से बहुत से ऊपर से तो उसके पक्ष में थे परन्तु अन्दर से विपक्ष में थे। चाहड़ राजकुमार की चालाकी से मालवा का स्वामी बल्लालदेव भी दूसरी तरफ से आक्रमण करने के लिए तैयार हुआ था और इससे कुमारपाल की स्थिति सरौते के बीच रही हुई सुपारी के समान हो गई, परन्तु कुमारपाल के भाग्यबल से इसके वे सभी राज्य कर्मचारी, जिनकी नियुक्ति इसने राज्य सँभालते ही की थी, समर्थ और विश्वासी निकले। इनकी कुशलता से गुजरात की जनता नये राजा की ओर पूर्ण सहानुभूति रखने लगी और सैनिकवर्ग भी पराक्रमी और रणवीर राजा की छत्र छाया में उन्नति की आशा से उत्साहित हुआ। कुमारपाल ने अपने विश्वासी सेनापति काकभट के सेनापतित्व में चुने हुए सैनिकों की एक फौज मालवा वल्लाल के विरुद्ध भेज दी और स्वयं अपने सारे सामन्तों को लेकर मारवाड़ के अर्णोराज का सामना करने के लिए चल पड़ा। सामन्तों में मुख्य चन्द्रावती का महामण्डलेश्वर विक्रमसिंह था। उसने आबू के पास ही कुमारपाल की हत्या करने का षडयन्त्र रचा, परन्तु कुमारपाल ने उस षडयन्त्र को तुरन्त पहचान लिया और वहाँ नहीं ठहरता हुआ सीधा शत्रु की सेना की ओर चला गया। लेकिन समराङ्गण में भी उसने अपने सामन्तों और सैनिकों को शत्रु पक्ष की ओर मिले हुए देखा। कुमारपाल ने अपने भाग्य का पासा पलटने के लिए सामयिक कुशलता का उपयोग कर एक ही झपाटे में शत्रु के ऊपर आक्रमण कर दिया और पहले ही वार में उसे आहत कर शरणागत होने के लिए वाध्य किया। वल्लाल के ऊपर चढ़ाई करने वाले सेनापति ने भी उतनी ही जल्दी शत्रु का शिरश्छेद करके कुमारपाल की विजयपताका उज्जयिनी के राजमहल पर फहरा दी।

उस समय के गुजरात के पड़ोसी और प्रतिस्पर्धी मारवाड़ और मालवा के दोनों महाराज्यों को सिद्धराज जयसिंह ने ही गुर्जर पताका के नीचे ला दिया

इस प्रकार कोंकण राज का उच्छेद होने पर कुमारपाल की राज्यसत्ता दक्षिण प्रांत में दूर दूर तक फैल गई थी, और कदाचित् सह्याद्रि के सुदूर शिखर तक गुजरात का ताम्रचूड विजयध्वज फहराता था। गुजरात के साम्राज्य की सीमा को बताने वाली इतनी बड़ी विशाल रेखा भारतवर्ष के मानचित्र में केवल कुमारपाल के पराक्रम ने ही अङ्कित की थी। उसके समकालीन भारतीय राजाओं में कुमारपाल सबसे बड़े राज्य का स्वामी था। हेमचन्द्राचार्य उसके राज्य की चतुस्सीमाओं का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

स कौवेरीमातुरुष्कमैन्द्रीमात्रिदशापगाम्।
याम्यामाविन्ध्यमावाधिं पश्चिमां साधयिष्यति ॥

अर्थात्—कुमारपाल की राजाज्ञा उत्तर में तुरुष्क लोगों के प्रान्त तक, पूर्व में गङ्गा नदी के किनारे तक, दक्षिण में विन्ध्याचल तक और पश्चिम में समुद्र तक मानी जाती थी। प्रबन्धकारों के अनुसार हेमाचार्य द्वारा बताई गई उस चतुःसीमा में कोंकण, कर्नाटक, लाट, गूर्जर, सौराष्ट्र, कच्छ, सिन्धु, उच्चा, भम्भेरी, मारवाड़, मालवा, मेवाड़, कीर, जाङ्गल, सपादलक्ष, दिल्ली; जालन्धर और राष्ट्र अर्थात् महाराष्ट्र इत्यादि अठारह देशों का समावेश होता था। एक दूसरी जगह भी हेमचन्द्रसूरि कुमारपाल ने जिन देशों को जीता था उसका निर्देश करते हैं। जैसे कि—

जिष्णुश्चेदिदशार्णमालवमहाराष्ट्रापरान्तान् कुरून्।
सिन्धूनन्यतमांश्च दुर्गविषयान् दोर्वीर्यशक्त्या हरिः।
चौलुक्यः परमार्हतः विनयवान् श्रीमूलराजान्वयी ॥ इत्यादि

कुमारपाल राज्य का कार्यभार संभालने में कई तरह से सफल हुआ। उसके लगभग तीस वर्ष के राज्यकाल में प्रजा ने अद्वितीय शान्ति और उन्नति प्राप्त की थी। देश समृद्धि के शिखर पर पहुँच चुका था। किसी भी प्रकार का स्वचक्र सम्बन्धी या परचक्र सम्बन्धी उपद्रव नहीं हुआ। लक्ष्मी देवी के समान ही प्रकृति देवी भी उसके राज्य पर प्रसन्न थी और उसके समय में देश में एक भी दुष्काल नहीं पड़ा। उसकी ऐसी भाग्य सफलता प्रत्यक्ष देखने वाले आचार्य सोमप्रभ इस बात को विशेष जोर देकर लिखते हैं।

स्वचक्रं परचक्रं वा नानर्थं कुरुते क्वचित्।
दुर्भिक्षस्य न नामापि श्रूयते वसुधातले ॥

गुणवर्णना—

आचार्य हेमचन्द्र उसके सर्वगुणों का समुच्चय बहुत ही परिमित और सर्वथा यथार्थ शब्दों में अपनी अन्तिम रचना में इस प्रकार देते हैं—

कुमारपालो भूपालश्चौलुक्यकुलचन्द्रमाः ।
भविष्यति महाबाहुः प्रचण्डाखण्डशासनः ॥
स महात्मा धर्मदानयुद्धवीरः प्रजां निजाम् ।
ऋद्धिं नेष्यति परमां पितेव परिपालयन् ॥
ऋजुरप्यतिचतुरः शान्तोऽप्याज्ञादिवस्पतिः ।
क्षमावानप्यधृष्यश्च स चिरं क्ष्मामविष्यति ॥
स आत्मसदृशं लोकं धर्मनिष्ठं करिष्यति ।
विद्यापूर्णमुपाध्याय इवान्तेवासिनं हितः ॥
शरण्यः शरणेच्छूनां परनारीसहोदरः ।
प्राणेभ्योपि धनेभ्योपि स धर्मं बहुमंस्यते ॥
पराक्रमेण धर्मेण दानेन दययाज्ञया ।
अन्यैश्च पुरुषगुणैः सोऽद्वितियो भविष्यति ॥

यहाँ पर हेमचन्द्रसूरि भविष्य पुराण की वर्णन पद्धति के अनुसार महावीर के मुख से कुमारपाल का भावी वर्णन इस प्रकार से करवाते हैं: अर्थात्—"चौलुक्य वंश में चन्द्रमा के समान और प्रचंड रीति से अपना अखंड शासन चलाने वाला कुमारपाल राजा होगा। यह धर्मवीर, दानवीर और युद्धवीर के गुणों से महात्मा कहलायेगा और पिता की भाँति अपनी प्रजा का पालन करके उन्हें सम्पत्तिशाली बनायेगा। । यह स्वभाव से सरल होने पर भी अति चतुर होगा, क्षमावान् होने पर भी यह अधृष्य होगा और इस प्रकार चिरकाल तक पृथ्वी का पालन करेगा। जिस प्रकार उपाध्याय अपने शिष्य को पूर्ण विद्यावान् बनाता है उसी प्रकार कुमारपाल भी अपने समान दूसरे लोगों को भी धर्मनिष्ठ बनायेगा। शरणार्थियों को शरण देने वाला परस्त्रियों के लिए भाई के समान निष्काम और प्राण और धन से धर्म को ज्यादा मानने वाला होगा। इस प्रकार पराक्रम, धर्म, दान, दया आज्ञा और इसी प्रकार के दूसरे पौरुष गुणों में अद्वितीय होगा।"

हेमचन्द्रसूरि द्वारा आलेखित गुणों के इस रेखाचित्र में वास्तविकता की दृष्टि से किंचित् भी व्यंग्य नहीं है, यह बात कुमारपाल के जीवन के विषय में जिन मुख्य मुख्य बातों का मैंने यहाँ बर्णन किया है उनसे निस्सन्देह सिद्ध होती है।

गूर्जरेश्वरों के राजपुरोहित नागरश्रेष्ठ महा कवि सोमेश्वर कीर्तिकौमुदी नामक अपने काव्य में कुमारपाल की कीर्ति-कथा का वर्णन करते समय हेमचन्द्र के उपरोक्त ५-६ श्लोकों के भाव का निचोड़ देता है और वह हेमाचार्य के भाव से भी ज्यादा सत्त्वशाली है। सोमेश्वर कहता है कि—

पृथुप्रभृतिभिः पूर्वैर्गच्छद्भिः पार्थिवैर्दिवम्।
स्वकीयगुणरत्नानां यत्र न्यास इवार्पितः॥
न केवलं महीपालाः सायकैः समराङ्गणे।
गुणैर्लोकंपृणैर्येन निर्जिताः पूर्वजा अपि॥

अर्थात्—"पुराणकाल में पृथु आदि जितने महागुणवान् राजा हो गये हैं उन्होंने अपने गुणरूपी रत्नों की धरोहर स्वर्ग में जाते समय मानों कुमारपाल को सौंप दी हो ऐसा प्रतीत होता है। [यदि ऐसा न होता तो इस कलिकालोत्पन्न राजा में ऐसे सात्त्विक गुणों का समुच्चय कहाँ से होता ?]

कुमारपाल ने अपने बाणों से समरांगणमें राजाओं को ही नहीं जीता था अपितु लोकप्रिय गुणों से अपने पूर्वजों को भी जीत लिया था।"

सोमेश्वर का यह कथन कुमारपाल की जीवनसिद्धि के भाव को संपूर्ण रूप से व्यक्त करने वाला उत्कृष्ट रेखाचित्र है। गुजरात की पुरातन संस्कृति के सर्व संग्रहालय में यह चित्र केन्द्रस्थान की शोभा प्राप्त करे।

LORD MAHAVIRA.

डो० बूलचन्द्रजी द्वारा लिखित 'Lord Mahavira' प्रकाशित हो गया है। उसकी कीमत ४-८-० रखी गई है। मंडल के सभी-प्रकार के सदस्यों को विना मूल्य भेज दी गई है। उसके विषय में जो अभिप्राय प्राप्त हुए हैं उनमें से कुछ ये हैं—

"Cordial thanks for your valuable monograph from which I hope many thoughtful readers will collect information about the great man; his ideas, and his ideals.

PROF. WALTHER SCHUBRING,
Hamburg Univertity.

"I have not yet found any book of a similar compass being both so full and so pleasant reading."

JULES BLOCH,
Professor of Sanskrit,
College de France, Paris.

"I have read your book with absorbing interest. It is a very lucid exposition of the tenets of Jainism."

H. VON GLASENAPP,
Prof. of Indian History & Philosophy,
Tubingen University.

ता० १०-२-४९ को डाक्टर वलचन्द्र जी ने पेरिस की Institut de Civilisation Indienne में गये और वहाँ के विद्वानों का परिचय प्राप्त किया। फिर उनको जैन संस्कृति-संशोधन मंडल का परिचय देकर अनुरोध किया कि वे अपने विभिन्न विषय के छात्रों को जैन संस्कृति से संवद्ध विषय अन्वेषण के लिये दें क्योंकि इस विषय में अन्वेषण अभी नहीं हुआ है।

उक्त संस्था के विद्वान् अध्यापकों को यह अश्वासन दिया गया कि वे यदि अपने छात्रों को जैन-संस्कृति से सम्बद्ध विषय के अन्वेषण में नियुक्त करेंगे तो उसमें मंडल अपना पूरा सहयोग देगा। Prof. Bloch की सिफारिश से Miss Rigine Raveau ने 'Conception of Daya" यह विषय Ph. D. के लिय लिया है और मंडल ने उन्हें फेलो के रूप में स्वीकार करके उन्हें आवश्यक सहायता देना मंजूर किया है।

ता० २५-३-४९ को प्रमुख महोदय ने Ecole Nationale des Langues Orientales के तत्त्वावधान में पूर्व-पश्चिम के आचार और विचार के विषय में व्याख्यान दिया।

ता० २-५-४९ के रोज सोरबोन के Institut de Civilisation Indienne में भगवान् महावीर के चरित्र के विषय में व्याख्यान दिया।

३ प्राप्ति स्वीकार—

जनवरी से जून १९४९ तक

१ वार्षिक सदस्य—

६०) श्री गणेश लाल जी नाहटा, ई० १९४८ की वार्षिक सभ्यपद की फीस

२ आजीवन सदस्य—

५००) श्री आनन्दराम जी सुराना, देल्ही,
५००) श्री कान्तिलाल नथुभाई पारेख, बंबई
१००) श्री एस. लालचन्द डढा, मद्रास,
३००) श्री रतीभाई साराभाई झवेरी, बंबई,

निवेदक
मंत्री
श्री जैन संस्कृति संशोधन मंडल

पत्रिका नं० २८

अन्तर्निरीक्षण

लेखक
श्री पं० सुखलाल जी संघवी

अनुवादक
श्री मोहनलाल मेहता

प्रकाशक
जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस

मूल्य छह आना

अगस्त १९५१

निवेदन

पं० श्री सुखलाल जी ने श्रीमद् देवचन्द्र जी के एक स्तवन का जो विवेचन लिखा है उसे 'अन्तर्निरीक्षण' के नाम से प्रकाशित किया जाता है। श्री परमानन्द भाई कापडिया ने उक्त स्तवन को श्री छोटालाल भाई पारेख से सुना और उनको प्रतीत हुआ कि इस स्तवन में व्यक्ति की आध्यात्मिक जीवन-चर्चा का संक्षिप्त सार मर्मस्पर्शी भाषा में आ जाता है इतना ही नहीं किन्तु समस्त समाज के जीवन का भी प्रतिबिम्ब उसमें पड़ा है। अतएव उन्होंने पं० श्री सुखलाल जी से उसका विवेचन लिखने को कहा। उसी का परिणाम यह विवेचन है। प्रस्तुत विवेचन गुजराती में 'प्रबुद्ध जैन' में वर्ष ६ अंक १४ और १५ में क्रमशः छपा था। उसी का अनुवाद श्री मोहन लाल मेहता, B. A. जैन-बौद्ध-दर्शन-शास्त्री ने हिन्दी में किया है। प्रस्तुत पुस्तिका में प्रारम्भ में स्तवन के बाद जो अर्थ दिया है, वह मैंने इसलिए लिखना आवश्यक समझा कि स्तवन गुजराती में है और पंडित जी ने उसका शब्दार्थ नहीं दिया।

यह विवेचन शास्त्रीय तो है ही; साथ ही जैन समाज को अपने आध्यात्मिक विकास मार्ग का प्रतिक्रमण करने की प्रेरणा भी देता है। पंडित जी के विवेचन की यही विशेषता है कि वे किसी बात को शास्त्रबद्ध है इसीलिए अंतिम सत्य मान कर नहीं चलते किन्तु अपने तर्क और तुलनात्मक अध्ययन का उपयोग करके सुसंगत क्या हो सकता है इसकी ओर संकेत कर देते हैं। आशा है पाठक इस विवेचन को इसी दृष्टि से पढ़ेंगे और अन्तर्निरीक्षण की ओर प्रवृत्त होंगे।

मैं श्री परमानन्द भाई और पं० श्री सुखलाल जी का आभार मानता हूँ और भाई मोहनलाल मेहता को भी धन्यवाद देता हूँ।

दलसुख मालवणिया
मंत्री
जैन संस्कृति संशोधन मंडल
बनारस

अन्तर्निरीक्षण

★ श्री वज्रधर जिन स्तवन ★

(तर्ज़—नदी यमुना के तीर ए देशी)

विहरमान भगवान, सुणो मुज विनति,
जगतारक जगनाथ, अछो त्रिभुवनपति;
भासक लोकालोक, तिणे जाणो छति,
तो पण वीतक बात, कहुं छुं तुज प्रति ॥१॥
हुँ स्वरूप निज छोड़ि, रम्यो पर पुद्गले,
झील्यो उलट आणि, विषय तृष्णाजले;
आस्रव बंध विभाव, करूं रुचि आपणी,
भूल्यो मिथ्यावास, दोष दऊं परभणी ॥२॥
अवगुण ढाँकण काज, करूं जिनमत क्रिया,
न तजूं अवगुण चाल, अनादिनी जे प्रिया;
दृष्टिरागनो पोष, तेह समकित गणुं,
स्याद्वादनी रीत, न देखुं निजपणुं ॥३॥
मन तनु चपल स्वभाव, वचन एकांतता,
वस्तु अनंत स्वभाव, न भासे जे छता;
जे लोकोत्तर देव, नमुं लौकिकथी,
दुलभ सिद्ध स्वभाव, प्रभो तहकीकथी ॥४॥
महाविदेह मझार के, तारक जिनवरु,
श्री वज्रधर अरिहंत, अनंत गुणाकरु;
ते निर्यामक श्रेष्ठ, सही मुज तारशे,
महावैद्य गुणयोग, भवरोग वारशे ॥५॥

प्रभुमुख भव्यस्वभाव, सुणुं जो माहरो,
तो पामे प्रमोद, अेह चेतन खरो;
थाये शिवपद आश, राशि सुख वृन्दनी,
सहज स्वतन्त्र स्वरूप खाण आणंदनी ॥६॥
वलग्या जे प्रभुनाम, धाम ते गुणतणा,
धारो चेतनराम, अेह थिर वासना;
देवचन्द्र जिनचन्द्र, हृदय स्थिर स्थापजो,
जिन आणायुक्त भक्ति, शक्ति मुज आपजो ॥७॥

अर्थ

(१) महाविदेह क्षेत्र में विचरण करने वाले वज्रधर भगवान् मेरी प्रार्थना सुनो ! आप जगत के ज्ञाता हैं, जगत् के नाथ हैं। और तीनों लोक के स्वामी हैं। आप लोक और अलोक को जानते हैं—अर्थात् सर्वज्ञ हैं अतएव आप सब कुछ जानते हैं। फिर भी आपको मैं अपनी रामकहानी सुनाना चाहता हूँ।

(२) मैं अपने स्वरूप को छोड़कर पर पुद्गल में रत हुआ हूँ। और उल्लासपूर्वक विषय की तृष्णा रूप जल में गोते लगाये हैं। मैंने अपनी इच्छा से ही आस्रव और बन्ध रूप विभाव का सेवन किया है। मिथ्यात्व की वासना से मैं ही मार्ग भूला हूँ और दोष दूसरों को देता हूँ।

(३) अपने दोषों को छिपाने के लिए मैं जैन मत के बाह्य क्रियाकाण्ड का दिखावा करता हूँ। किन्तु अनादि काल से प्रिय ऐसा दोष का आचरण नहीं छोड़ता। दृष्टि राग की पुष्टि करना, इसी को मैं सम्यग्दर्शन समझता रहा हूँ किन्तु स्याद्वाद का आश्रय नहीं लेता और अपने स्वभाव को भी नहीं देखता।

(४) मेरा मन और शरीर अस्थिर स्वभाव वाले हैं और मेरे वचन में एकान्त है। वस्तु स्वभाव अनन्त धर्म वाला है फिर भी मुझे वह नहीं दीखता। जो लोकोत्तर देव हैं उनको भी मैं लौकिक दृष्टि से नमस्कार करता हूँ तो सिद्ध रूप जो मेरा स्वभाव है वह निश्चय से मेरे लिए दुर्लभ है।

(५) महाविदेह क्षेत्र में विचरण करने वाले अनन्त गुणों के भंडार ऐसे जिनवर श्री वज्रधर स्वामी! आप ही तारक हैं आप श्रेष्ठ मोक्ष-मार्ग-दाता हैं। मुझे विश्वास है कि आप ही मुझे तारेंगे। आप महावैद्य के गुणों का योग ही मेरे भव रोग को मिटा देगा।

(६) हे प्रभु यदि आपके मुख से सुनूँ कि मैं भव्य हूँ तो मेरे चेतन को परम प्रमोद होगा और मुक्ति की मेरी आशा बँधेगी। वह मुक्ति सकल सुख का भण्डार है और सहज स्वतंत्र स्वभाव रूप होने से आनंद का भंडार है।

(७) जो प्रभु-नाम-स्मरण में लग जाते हैं वे गुणों का धाम बन जाते हैं। अय मेरे चेतन राम, इस बात को अपने मन में दृढ़ बनालो। हे जिन-चन्द्र! देवचन्द्र के हृदय में स्थैर्य को दृढ़ करना और जिन आज्ञा के अनुसार भक्ति का सामर्थ्य मुझे देना।

श्रीमान् देवचन्द्र जी

प्रस्तुत स्तवन के रचयिता जैन समाज के—खासकर श्वेताम्बर समाज के—प्रसिद्ध श्रीमान् देवचन्द्र जी महाराज हैं। उनका विस्तृत जीवन-चरित्र श्रीयुत मणिलाल भाई ने लिखा है और अध्यात्म-ज्ञान-प्रचारक मंडल की ओर से प्रकाशित हुआ है; जिनको विशेष जानने की इच्छा हो वे इस पुस्तक को पढ़ें। यहाँ पर तो मैं देवचन्द्र जी महाराज के विषय में बहुत संक्षिप्त रूप से बतलाऊँगा। उनका जन्म वि० सं० १७४६ में अर्थात् उपाध्याय यशोविजय जी के स्वर्गवास के बाद तुरन्त ही हुआ और स्वर्गवास वि० सं० १८१२ में हुआ। इस प्रकार से उनका जीवनकाल लगभग ६६ वर्ष का था। उन्होंने दस वर्ष की उम्र में दीक्षा ली और सम्पूर्ण जीवन शास्त्राध्ययन, चिंतन और साधु-सुलभ भिन्न भिन्न प्रदेशों के परिभ्रमण में व्यतीत किया। इसी प्रकार से उन्होंने सम्पूर्ण जीवन भर नूतन नूतन रचनाएँ करने में अपनी शक्ति लगाई। वे जन्म से मारवाड़ी ओसवाल थे किन्तु उन्होंने गुजरात, काठियावाड़ आदि अनेक प्रदेशों में विहार किया। संस्कृत और प्राकृत जैसी शास्त्रीय भाषाओं के उपरान्त गुजराती, मारवाड़ी और हिन्दी भाषा में उन्होंने भिन्न भिन्न रचनाएँ की हैं। इन सभी कृतियों का विषय मुख्य तौर से जैन परंपरा ही रहा है। तत्त्वज्ञान और आचार से सम्बंधित अनेक विषयों की चर्चा इन्होंने की है। इस चर्चा में अनेक जगह कथानुयोग का उपयोग किया है और आज जिन्हें पौराणिक कह सकते हैं ऐसे अनेक विषयों को उन्होंने वास्तविक मान कर अर्थात् जिस प्रकार से प्राचीन काल में सामान्य रीति से सभी लेखक मानते रहे हैं उसी प्रकार से सर्वज्ञ-प्रणीत मान कर—उसकी भूमिका पर जैन तत्त्वज्ञान से संबद्ध विषयों का निरूपण किया है। प्रस्तुत स्तवन इनकी इस योजना का एक नमूना है। स्तवनकार इस स्तवन में महाविदेह क्षेत्र में इस समय रहने वाले बीस तीर्थंकरों में से ग्यारहवें श्री वज्रधर स्वामी को उद्देश्य करके विनती करते हैं।

महाविदेह क्षेत्र और विहरमाण जिन

अन्तिम ७५ अथवा १०० वर्ष के नवयुग से पहले आज जैसी विचार-धारा और संशोधन वृत्ति किसी भी धर्मपंथ में शायद ही उदित हुई थी। प्रत्येक संप्रदाय अपनी अपनी परंपरागत मान्यता को ज्यादातर शंका उठाए बिना ही मान लेता था और उसकी ऐतिहासिक खोज में नहीं पड़ता था। श्रीमान् देवचन्द्र जी जन्म और कार्य से जैन थे इसलिए प्रत्येक सांप्रदायिक मान्यता उनकी रग रग में व्याप्त हो, यह तो स्वाभाविक ही है। जैन परंपरा के भूगोल में महाविदेह नामक क्षेत्र का विशिष्ट स्थान है। जम्बूद्वीप के अतिरिक्त अन्य खंडों में भी महाविदेह नामक क्षेत्र हैं और वे सब मिलकर पाँच हैं। महाविदेह क्षेत्र में अभी विद्यमान ऐसे बीस तीर्थंकरों का अस्तित्व जैन परंपरा स्वीकार करती है। ये तीर्थंकर विहरमाण जिन कहलाते हैं। जिनको उद्देश्य करके प्रस्तुत स्तवन रचा गया है वे उन बीस में से ग्यारहवें हैं और उनका नाम वज्रधर है। बीस विहरमाणों में प्रथम जिन के रूप में "सीमंधर" स्वामी का नाम आता है और यह नाम बाकी के विहरमाणों से इतना ज्यादा प्रसिद्ध है कि शायद ही कोई ऐसा जैन होगा जिसने यह नाम न सुना हो। इनके विषय में पद्मविजय-कृत "सुणो चन्दा जी" से प्रारम्भ होने वाला स्तवन जितना भाववाही है उतना ही प्रसिद्ध है। सीमंधर स्वामी का नाम लेते ही महाविदेह क्षेत्र और उसमें विचरने वाले अन्य जिनों का कल्पना-चित्र मन के सामने खड़ा हो जाता है।

सीमंधर स्वामी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं इसलिए उनसे संबन्धित अनेक चमत्कारिक बातें और मात्र श्रद्धा से ही मानी जा सकें ऐसी अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं और ये बातें जैन परंपरा के किसी एक फ़िरक़े में ही नहीं किन्तु प्रत्येक संप्रदाय में अपना अस्तित्व रखती हैं और ऐसी वार्ताओं के प्रमाण लगभग पन्द्रह सौ वर्ष पुराने तो हैं ही।

जिस प्रकार दिगंबर परंपरा में आचार्य श्री कुन्दकुन्द के श्रुत की प्रतिष्ठा का आधार इसी पर है कि वे स्वयं महाविदेह क्षेत्र में गये थे और वहाँ जाकर सीमंधर स्वामी के पास से श्रुत लाये थे उसी प्रकार आचारांग और दशवैकालिक की दो दो चूलिकाओं की प्रतिष्ठा का आधार भी इसी पर है कि स्थूलिभद्र की बहिनें महाविदेह में गई थीं और सीमंधर स्वामी से

चूलिकाएँ लायी थीं। आगमश्रुत से आगे बढ़ने पर तर्कश्रुत के समय में भी ऐसी ही एक घटना मिलती है। जैन न्याय में प्रसिद्ध एक श्लोक महाविदेह क्षेत्र में से लाया गया है, ऐसा वर्णन भी पुराना है। इतना वर्णन जैन परंपरा के श्रद्धालु हृदय को समझने के लिए काफ़ी है। ऐसा श्रद्धालु हृदय यदि इस समय के वैज्ञानिक और परीक्षा-प्रधान युग में भी अपना कार्य करता ही रहे और श्री कानजी मुनि जैसों की महाविदेह क्षेत्र में जाकर सीमंधर स्वामी से मिल आने की बात सुन कर किसी प्रकार की शंका न उठावे तो आज से ढाई सौ वर्ष पुराने समय में वर्तमान श्री देवचन्द्र जी महाराज अपनी कृतियों में इस महाविदेह की पुरानी परंपराओं को लेकर कुछ वर्णन करें तो उसमें आश्चर्य अथवा शंका को स्थान ही क्या हो सकता है?

जल, स्थल और आकाश के प्रत्येक मील का हिसाब रखने को उद्यत और चन्द्रलोक तथा मंगलग्रह के प्रदेश तक पहुँचने के लिए प्रयत्न करने वाले वर्तमान युग की भौगोलिक और ऐतिहासिक दृष्टि को हम सन्तोष नहीं दे सकते तो भी हमारे लिए इतना काफ़ी है कि महाविदेह और उसमें विचरने वाले विहरमाण तीर्थंकरों को कवि का एक रूपक मान कर उसके कल्पना चित्र से फलित होने वाले भावों को ही समझें और प्रस्तुत स्तवन का अर्थ इसी दृष्टि से निकालें। महाविदेह क्षेत्र ब्राह्मण, बौद्ध और जैन शास्त्रों में आने वाला विदेह देश ही है अथवा जैनमान्यता के अनुसार दूसरा कोई दूरवर्ती प्रदेश है और उसमें विचरने वाले कोई तीर्थंकर हैं कि नहीं, यह खोज कर इस विषय में निर्णय देने का काम इस समय अप्रस्तुत है। प्रस्तुत विवेचन तो इस आधार पर भी किया जा सकता है कि आध्यात्मिक दृष्टि से देह की ममता से मुक्त होना महाविदेह क्षेत्र है और ऐसी स्थिति में जो कोई जीने वाला हो वह विहरमाण जिन है। देवचन्द्र जी महाराज की दृष्टि में ऐसे महाविदेह और विहरमाण की कल्पना भले ही न हो किन्तु उनके स्तवन के भाव को पूरा पूरा समझने के लिए रूढ़ श्रद्धालु और परीक्षक श्रद्धालु इन दोनों के लिए उपरोक्त महाविदेह और विहरमाण जिन की आध्यात्मिक कल्पना एक सी उपयोगी है और निश्चय दृष्टि से विचार करने पर अन्त में यही कल्पना धार्मिक पुरुष को आध्यात्मिक जीवन बिताने में सहायक बन सकती है। यह भी संभव है कि प्राचीन काल के चिन्तकों ने मूल में ऐसी ही किसी आध्यात्मिक कल्पना को साधारण जनोपयोगी बनाने के लिए रूपक

का स्थूल रूप दिया हो और साधारण जनता उसी रूपक को वास्तविक समझने लग गई हो और समय बीतने पर वही रूपक कथा साहित्य में और अन्य प्रसंगों में वास्तविकता में परिणत हो गया हो। श्रद्धालु और परीक्षक इन दोनों प्रकार के धार्मिक तत्त्वज्ञों को एक सरीखी रीति से समझ में आजाय ऐसा भाव प्रस्तुत स्तवन में से निकालना ही यहाँ का मुख्य उद्देश्य है।

स्तवन का सामान्य स्वरूप

प्रस्तुत स्तवन में चार चार चरणों के सात पद हैं। स्तवन विनती रूप से लिखा गया है अतः इसमें प्रधान रूप से कवि का भक्तियोग या श्रद्धातत्त्व ही प्रवाहित होता है। ऐसा होते हुए भी यह भक्ति ज्ञानयोग अथवा विवेक योग से शून्य नहीं है। एक तरह से कहा जाय तो यह सम्पूर्ण स्तवन ज्ञानयोग और भक्तियोग का संगम है जिसको जैन परिभाषा में सम्यग्दर्शन कह सकते हैं। भक्तितत्त्व प्रधान होने से कवि के भक्तिप्रवण उद्गार भक्ति के ही अनुरूप सुकोमल छन्द में प्रगट हुए हैं। भक्तितत्त्व में भक्त और भक्तिपात्र का द्वैत अनिवार्य है। इतना ही नहीं किन्तु उसमें भक्त अति नम्र भाव से अपनी दुःख-कथा अनुतापयुक्त वाणी में भक्तिपात्र को सुनाता है। इसलिए उस कथन में शौर्य अथवा पराक्रम को व्यक्त करने वाले उद्दीपक शब्दों को स्थान नहीं मिलता किन्तु ऐसे आन्तरिक अनुताप वाले उद्गारों में नम्रता भरे शब्दों का प्रयोग सहज ही में होता है। कवि ने जैन और वैष्णव-पूर्वाचार्यों के छन्द को ही पसंद किया है। इसकी तर्ज ऐसी है कि यदि गायक योग्य रीति से गावे तो इसमें से कवि के हृदय में प्रगट हुए अनुतापयुक्त भक्तिभाव और विवेक ये दोनों, अर्थ के गहन विचार के सिवाय भी, श्रोताओं के मन पर अंकित हो जाते हैं। प्रत्येक पाद के अन्त में आने वाला अनुप्रास गेय तत्त्व की मधुरता में वृद्धि करता है और श्रोता के मन पर ऐसा प्रभाव डालता है कि बार बार सुनने की अथवा गाने की लालसा बनी ही रहती है और इसके पुनरावर्तन में से अर्थ की गहराई में वह अपने आप उतरता जाता है।

प्रथम पद

विहरमाण भगवान, सुणो मुज विनति ,
जगतारक जगनाथ, अछो त्रिभुवनपति ;

भासक लोकालोक, तिणें जाणो छति ,
तो पण वितक वात, कहुं छुं तुज प्रति ॥ १ ॥

कवि जानता है कि स्तुत्यदेव सर्वज्ञ होने से उसका वक्तव्य भी जानते हैं इसलिए उनसे कुछ भी कहना मात्र पुनरुक्ति है। ऐसा जानते हुए भी कवि पुनरुक्ति और पिष्टपेषण का दोष टाल देता है, यह कवि के हृदयगत सच्चे अनुताप का सूचक है। जिस समय हृदय में वास्तविक अनुताप अर्थात् त्रुटि का हूबहू चित्र खड़ा होता है उस समय मनुष्य पुनरुक्ति तथा पिष्टपेषण दोष को दूर करके भी अपने दिल को अपने भक्ति-पात्र के संमुख खाली किये बिगर नहीं रह सकता। यही वस्तु प्रथम पद से सूचित होती है।

द्वितीय पद

हुँ सरूप निज छोड़ि, रम्यो पर पुद्गले ,
झील्यो उलट आणि, विषयतृष्णा जले ;
आस्रवबंध विभाव, करूँ रुचि आपणी ,
भूल्यो मिथ्यावास, दोष दऊँ परभणी ॥ २ ॥

जीवनतत्त्व के आध्यात्मिक विकासक्रम में जो तत्त्व, पर (छाया) का मैल छोड़ कर अन्त में वास्तविक निर्मल रूप में शेष रहता है वही तत्त्व पारमार्थिक सत्य कहा जाता है और वही साध्य माना गया है। जो तत्त्व आध्यात्मिक साधना द्वारा जीवन में से हमेशा के लिए निकल जाता है वही पर (छाया) अथवा वैभाविक कहलाता है। कवि आध्यात्मिक मार्ग का पथिक है इसलिए अपने जैन-परंपरानुसारी संस्कारों के अनुसार विवेक से पारमार्थिक और वैभाविक तत्त्वों का भेद समझ कर अपनी स्वरूप-च्युति का वर्णन द्वितीय पद में करता है। कवि ऐसा जानता है और मानता है कि वह मूल रूप से शुद्ध स्वरूपी है किन्तु अचिन्त्य कला और काल से अपने इस सच्चिदानन्द साहजिक स्वरूप से च्युत होकर पर-तत्त्व में मिल गया है और पर को ही स्व मान कर अपने सहज स्वरूप को भूल गया है। कवि इस कथन से जैन परंपरा के जीव, अजीव, आस्रव और बन्ध, इन चार तत्त्वों को सूचित करता है। भारत के सभी आत्मवादी दर्शन इन चार तत्त्वों की भूमिका पर ही अपने अपने

दर्शन को खड़ा करते हैं। सांख्य दर्शन में जो प्रकृति-पुरुष का और वेदान्त में जो नित्यानित्य का विवेक है वही जैन-दर्शन में जीव-अजीव का विवेक है। ऐसे विवेक का उदय ही सम्यग्दर्शन है। ऐसे दर्शन से ही मनुष्य का आध्यात्मिक विकास-क्रम के चौथे गुणस्थान में प्रवेश होता है।

कवि के कथन को यदि उसके विकास की भूमिका के आधार पर समझा जाय तभी उसका भाव समझ में आ सकता है। यहाँ पर कवि की भूमिका आनन्दघन अथवा श्रीमद् रायचन्द्र के समान सम्यग्दर्शन की ही है, ऐसा समझ लेना चाहिए। सम्यग्दर्शन का अर्थ होता है आध्यात्मिक विवेक। इस विवेक में साधक मुख्य रूप से श्रद्धा की भूमिका पर खड़ा होता है तो भी उसको अपने संप्रदाय के अनुभवी ऋषियों का ज्ञान प्रतीतिकर रूप में रहता ही है। साम्प्रदायिक भेद के कारण से आध्यात्मिक साधक की भाषा बदल जाती है किन्तु भाव नहीं बदलते। इसका प्रमाण हमको प्रत्येक संप्रदाय के सन्तों की वाणी में मिल सकता है। देवचन्द्र जी द्वारा सूचित किए गए उपर्युक्त चार तत्त्वों में जीव और अजीव तत्त्व सत् तत्त्व के अर्थात् विश्वस्वरूप के निर्देशक हैं और आस्रव और बन्ध तत्त्व जीवनलक्षी हैं। अनुभव में आने वाला जीवन न तो अकेला चैतन्यरूप है और न अकेला जड़रूप। यह तो दोनों का मिश्रण है। उसके प्रवाह की कोई आदि नहीं दीख सकती। ऐसा होने पर भी आध्यात्मिक द्रष्टाओं ने विवेक से इस जीवन के दो तत्त्वों को एक दूसरे से अलग और बिल्कुल स्वतन्त्र बतलाया है। एक तत्त्व में यदि ज्ञानशक्ति और चेतना है तो दूसरे में जड़ता है। जिसमें चैतन्य स्वभाव है वह जीव है और जिसमें यह स्वभाव नहीं है वह अजीव है। इन्हीं दो तत्त्वों को सांख्य अनुक्रम से पुरुष और प्रकृति कहता है और वेदान्त ब्रह्म और माया कहता है। देवचन्द्र जी जीव और जड़ का जिस ढंग से विवेक प्रगट करते हैं उसी ढंग का विवेक सांख्य और वेदांत आदि दर्शनों में भी है और इन दर्शनों में भी आध्यात्मिक प्रगति के लिए ऐसे विवेक का उदय अनिवार्य रूप से स्वीकारा गया है और उसी को सम्यक्-दर्शन के रूप से भी बतलाया गया है।

हुँ स्वरूप निज छोड़ि, रम्यो पर पुद्गले,
झील्यो उलट आणि, विषय तृष्णा जले।

कवि का यह कथन मैथ्यू आर्नोल्ड के सुविख्यात काव्य "Lead kind-

ly light amid the encircling gloom ! Lead thou me on !—"प्रेमल ज्योति तारो दाखवी मुज जीवन पंथ उजाल" (अनुवादक स्व० कवि नरसिंह राव) में आने वाली "The night is dark and I am far from home—"दूर पड्यो निज धाम थी हुँ ने घेरे घन अँधार" इस पंक्ति का स्मरण दिलाता है। इस प्रकार के कथनों को ज़रा गहराई से देखना चाहिये। कवि जब ऐसा कहता है कि मैं अपना स्वरूप छोड़कर पर रूप में रत हो गया हूँ तब क्या ऐसा समझना चाहिए कि किसी समय आत्मा बिल्कुल शुद्ध था और बाद में जड़पाश में बँध गया ? यदि ऐसा मानें तो मोक्ष पुरुपार्थ की मान्यता ही बेकार हो जाती है क्योंकि यदि प्रयत्न द्वारा कभी मोक्ष सिद्ध हो जाय और शुद्ध स्वरूप का आविर्भाव हो जाय तो भी उसके बाद किसी समय फिर कर्मपाश लग जाय। जिस न्याय से भूतकाल में शुद्ध स्वरूप विकृत हुआ उसी न्याय से मोक्षप्राप्ति के बाद के भविष्यत् काल में भी विकृत होगा और यदि ऐसा होने लग जाय तो मोक्ष की प्राप्ति हो तो भी वही हाल और न हो तो भी वही हाल। दूसरे ढंग से ऐसा कह सकते हैं कि यह तो मोक्ष प्राप्ति अर्थात् देवपद की प्राप्ति है। देव चाहे कितने ही समय तक सुख-समृद्धि भोगें किन्तु आखिर उससे च्युत तो होंगे ही। इसी प्रकार से मोक्ष-स्थिति भी चाहे कितनी ही लम्बी हो किन्तु अन्त में च्युत होना ही पड़ेगा। तो फिर "हुँ स्वरूप निज छोड़ि रम्यो पर पुद्गले" इसका क्या अर्थ हो सकता है ? इसके लिए निश्चय और व्यवहार दृष्टि दोनों का उपयोग है। आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान के प्रदेश में मोक्ष नामक पुरुषार्थ को जो स्थान मिला है वह विचारविकास के इतिहास में अमुक समय पर ही मिला है। न कि पहले से ही सनातन रहा है। जिस समय मोक्ष की कल्पना आई उस समय मुक्त आत्मा का अमुक स्वरूप भी कल्पना में आया और यही स्वरूप इसका असली स्वरूप है तथा इसके अतिरिक्त जो कुछ भी आत्मा में भासित होता है वह सब आगन्तुक और 'पर' है ऐसा माना गया। आत्मा के कल्पित शुद्ध स्वरूप में विजातीय तत्त्व कब आये और क्यों आये, ऐसा किसी भी अनुभवी ने अब तक नहीं जाना है और न जान ही सकता है। इतना होते हुए भी मोक्ष पुरुपार्थ की कल्पना के आधार पर कल्पित आत्मा के शुद्ध स्वरूप को, प्रत्येक अनुभवी ने मौलिक, वास्तविक और स्वाभाविक मानकर ही अपना आध्यात्मिक प्रस्थान प्रारंभ किया और जीवन में अनुभव में आने

वाले विकार-वासना के तत्त्व को विजातीय अथवा वैभाविक मानकर उसको निकाल फेंकने का पूर्ण प्रयत्न किया। मोक्ष जीवन का साध्य माना गया और मोक्ष-स्थिति आदर्श गिनी गई। इसी आदर्श स्थिति का स्वरूप देखनेवाली जो दृष्टि है वह निश्चय है और साधक दशा में 'पर' भाव अथवा विजातीय स्वरूप से मिश्रित चेतन दृष्टि का निरूपण करने वाली जो दृष्टि है वह व्यवहार है। देवचन्द्र जी इन दोनों दृष्टियों का आश्रय लेकर कहते हैं कि "हुँ स्वरूप निज छोड़ि रम्यो पर पुद्गले।" वास्तव में पहले कभी भी आत्मा संपूर्ण रूप से शुद्ध स्वरूप में था ही नहीं। वह तो अनादि काल से अशुद्ध रूप में ही रम रहा था। किन्तु इस अशुद्ध रूप में से जो शुद्ध रूप कभी न कभी प्रगट होनेवाला है उसी को ही निश्चय दृष्टि से भूतकाल में भी ऐसा ही था, ऐसा मानकर कवि लौकिक भाषा में व्यवहार दृष्टि का आश्रय लेकर "हुँ स्वरूप निज छोड़ि रम्यो पर पुद्गले" ऐसा कहता है। सांख्य और वेदान्त आदि दर्शनों में भी चेतन-अचेतन के सम्बन्ध को अनादि ही माना है और ऐसा होने पर भी निश्चय दृष्टि से चेतन अथवा ब्रह्म का स्वरूप ऐसा ही माना गया है जैसा कि भविष्यत् में मोक्ष-प्राप्ति के बाद आविर्भूत होनेवाला है। वास्तव में एक समस्या तो आज तक भी हल नहीं हो सकी है कि यदि दोनों तत्त्व मूल रूप से एक दूसरे से बिल्कुल विरुद्ध स्वभाव के हों और फिर भी दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ा हो तो वह किस लिए और कब? और यदि भविष्यत् में कभी भी एक का प्रभाव दूसरे पर से नष्ट होने का हो तो फिर ऐसा प्रभाव उस पर नहीं पड़ेगा, इसका क्या विश्वास? ऐसा होते हुए भी इस उलझी हुई समस्या पर ही आध्यात्मिक मार्ग का आधार है और इस के द्वारा ही चारित्र मार्ग के अनेक गुण मनुष्य जाति में विकसित हुए हैं। जैन परंपरा की जो निश्चय दृष्टि है वही बौद्ध और वेदान्तियों की परमार्थ दृष्टि है और जैन परंपरा की जो व्यवहार-दृष्टि है वही बौद्धों की संवृति और वेदान्तियों की माया (अविद्या) दृष्टि है।

देवचन्द्र जी ने जो तत्त्व इस दूसरे पद में अनगार परंपरा की नीरस वाणी में गाया है वही तत्त्व सांख्य और वेदान्त परंपरा के गृहस्थाश्रमानुभवी ऋषियों ने स्निग्ध तथा रसिक वाणी में गाया है। कपिल इस वस्तु का एक ढङ्ग से वर्णन करते हैं तो उपनिषद् के ऋषि इसी वस्तु का दूसरे ढङ्ग से वर्णन करते हैं। दाम्पत्य जीवन के लिए संसार जीवन एक नाटक है। गृहस्थाश्रम के स्त्री

और पुरुष रूपी दोनों ही पात्र, ब्रह्माण्ड के तख्त पर खेलते हुए सांसारिक जीवन के भी पात्र हैं, ऐसा कपिल ने माना है। इन दोनों का पत्नी तथा पति रूप से आश्रय लेकर कपिल ने अनुक्रम से प्रकृति और पुरुष को माना है। कपिल के रूपक के अनुसार प्रकृति, कुलवधू के समान पुरुष के समक्ष ही सम्पूर्ण नाटक खेलती है। जब उसको विश्वास हो जाता है कि पुरुष ने मेरा रूप देख लिया तब कृतार्थता-पूर्वक शर्मिन्दा होकर अपना खेल समेट लेती है। प्रकृति की लीला की शुरुआत से लेकर उसकी समाप्ति तक पुरुष कुछ भी नहीं करता। वह तो लीला का दर्शक होकर तटस्थ रहता है। प्रकृति स्वयं ही लीला करने वाली है और स्वयं ही उसको समेटने वाली है। ऐसा होते हुए भी पुरुष बद्ध अथवा मुक्त माना जाता है। वास्तव में वह न तो बद्ध है न मुक्त है। कपिल की इस कल्पना को एक अन्य ऋषि ने एक नये ही रूपक में व्यक्त किया है। इस ऋषि का मत है कि अजा अर्थात् बकरी एक है और वह लाल, सफेद और काले वर्ण की बहुरंगी है और अपने समान ही सन्तति उत्पन्न करती रहती है। इस सर्जनक्रिया में अज अर्थात् बकरा अजा का सेवन करता हुआ भी सदा अविकारी रहता है और भुक्त-भोग अजा को तटस्थ रूप से ही देखता है। सांख्य के इस मत में सारा कर्तृत्व और उसकी जिम्मेदारी मात्र प्रकृति तत्त्व पर ही है; पुरुष तो मात्र तटस्थ प्रेक्षक है। उपनिषद् के अनेक ऋषियों ने जो वर्णन किया है उसमें स्पष्ट रूप से पुरुष का ही कर्तृत्व भासित होता है। ये ऋषि कहते हैं कि आत्मा (ब्रह्म अथवा सत् तत्त्व) पहले अकेला था। इसको अकेले रहने में कुछ रस नहीं आया और अनेक रूप होने की इच्छा हुई। इस इच्छा से अज्ञात माया शक्ति के द्वारा ही वह अनेक रूप हुआ। जो यह अनेकरूपता है वही संसार है। इस वर्णन में सारा कर्तृत्व आत्मा का है—पुरुष का है। माया अथवा शक्ति ने इस सर्जन में जो भी सहायता की है वह सब आत्मा की कामना और तपस्या के कारण ही। उपनिषद् की माया में स्वतन्त्र रूप से कर्तृत्व नहीं है किन्तु कपिल की प्रकृति में तो सारा कर्तृत्व स्वतन्त्र रूप से विद्यमान है। उपनिषद् के मत में राम के पौरुष और सीता के अनुगमन मात्र के सम्बन्ध का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है जब कि कपिल के मत में कृष्ण और गोपीकृत रासलीला में मात्र कृष्ण के प्रेक्षकपने का प्रतिबिम्ब नजर में आता है। एक के मत से संसार नाटक के खेल की पूरी जिम्मेदारी प्रकृति पर है तो दूसरे के मत से पुरुष पर है। ये दोनों मत परस्पर

विरुद्ध तथा एकान्त मालूम पड़ते हैं। देवचन्द्र जी द्वितीय पद में जैन दृष्टि उप स्थित करते हैं; किन्तु उनके "हुँ स्वरूप निज छोड़ि रम्यो पर पुद्गले" इन शब्दों से व्यक्त होने वाली ध्वनि उपनिषद् की ध्वनि जैसी है। देवचन्द्र जी का 'हुँ' स्वयं ही कहता है कि मैंने मेरा स्वरूप स्वयं ही छोड़ा और पौद्गलिक लीला में रस लेने लग गया। देवचन्द्र जी का 'हुँ' पुद्गल अथवा कर्म को दोष न देता हुआ सम्पूर्ण दोष अपने ही सिर पर ले लेता है। इतनी चर्चा करने के बाद पाठक यह सोच सकेंगे कि भिन्न भिन्न आध्यात्मिक चिन्तकों ने एक ही वस्तु का अनेक रूप से वर्णन किया है। कोई प्रकृति, पुद्गल अथवा माया पर सारा दोष मढ़ता है तो कोई पुरुष, आत्मा अथवा जीव पर सम्पूर्ण दोष डालता है। कहने की शैली चाहे कैसी भी हो किन्तु उसी को अन्तिम सिद्धान्त मान कर वाद में पड़ जाना आध्यात्मिकता नहीं है। मूल वस्तु यही है कि वासना अथवा अज्ञान को कम करें अथवा निर्मूल करदें।

जैन दृष्टि मानती है कि कोई भी नाटक अथवा खेल किसी एक पात्र से नहीं खेला जा सकता किन्तु उसका कर्तृत्वफल सब के हिस्से में जाता है। यह हो सकता है कि उसमें एक का हिस्सा अमुक रीति से होता है तो दूसरे का दूसरी रीति से। अजा संतति पैदा किया करे और उसमें अज का कुछ भी रस न हो यह कहना निरर्थक है। इसी प्रकार से आत्मा जब अपने एकाकी-पन को छोड़कर अन्य से सबंध जोड़ता है तब भी उसे अन्य किसी अज्ञात तत्त्व की सहायता होती है।

मात्र तत्त्वज्ञान के प्रदेश में ही ऐसे आमने सामने टकराने वाले वाद नहीं हैं किन्तु इन वादों का मूल मनुष्य स्वभाव की सामान्य भूमिका में भी है। इस समय भी कई लोग ऐसा ही मानते हैं और कहते हैं कि स्त्री ने ही पुरुष को पाश में बाँधा। स्त्री का आकर्षण ही पुरुष का बंधन है। दूसरे कई लोग ऐसा कहते हैं कि पुरुष ही ऐसा धूर्त है कि वह भोली और निर्दोष स्त्री जाति को अपने जाल में फँसाता है। हम इन दोनों कथनों में देख सकते हैं कि कहने की रीति में ही विरोध है। एक का आकर्षण चाहे कितना ही सुन्दर हो किन्तु यदि दूसरे में अमुक प्रकार का आकर्षण करने की और आकर्षित होने की शक्ति नहीं है तो दोनों का योग सिद्ध ही नहीं हो सकता। अतः जैन-दृष्टि जीव और अजीव दोनों तत्त्वों का अपेक्षाभेद से कर्तृत्व स्वीकार करती है।

पहले बाइबल का ईश्वर-रचित आदमी एडन के बाग में अकेला था

और बाद में अपनी ही पसली में से दो के रूप में हुआ। जिस समय ईव सामने आयी उसी समय वासना के सर्प ने उसको ललचाया और अन्त में ईव ने ही आदम को ललचाया। यह रूपक उपनिषद् के एक आत्मा में से बहु होने के रूपक से मिलता जुलता है, जब कि बर्नार्ड शॉ के Man And Superman नाटक का पुरुष, स्त्री द्वारा ही स्त्री की अपनी रति और सेवा के लिए बनाया गया है। चाहे बाद में भले ही वह अपनी स्त्री का स्वामी बन गया हो। शॉ के इस कथन के पीछे कपिल का रूपक भूमिका रूप से रहा हो तो भी हम इन्कार नहीं कर सकते। तत्त्वज्ञ ऐसे रूपक पढ़ें, सुनें और उन पर विचार करें किन्तु उनमें से एक रूपक को अन्तिम मान कर उससे सिद्धान्त न निकालें, यही यहाँ पर कहने का तात्पर्य है।

राग-द्वेष और अज्ञान का दोष ही पद के उत्तरार्ध में आस्रव के नाम से कहा है। और इस दोष से होने वाला लेप ही बंध है। इस जैन परिभाषा के आस्रव और बंध को सभी आस्तिक दर्शनों ने भिन्न भिन्न नाम से माना है। देवचन्द्र जी का "हुं" आत्मनिरीक्षण-पूर्वक पश्चात्ताप की गहरी वेदना के साथ पुकार उठता है कि मैं स्वयं ही दोषी हूँ, मैं स्वयं ही कर्मलेप के लिए जिम्मेदार हूँ तो भी दूसरों पर दोष मढ़ता हूँ। वास्तव में पुद्गल अथवा जगत के अन्य जीव-जन्तु मेरे पतन के लिए जिम्मेदार नहीं हैं। मेरे पतन की पूरी जिम्मेदारी मेरे पर ही है। देवचन्द्र जी के "हुं" के ये उद्गार पुरुषार्थ की प्रेरणा करने वाले हैं। यदि अपने पतन में अन्य किसी का दोष नहीं हो, अन्य किसी की जिम्मेदारी अथवा नियति या यदृच्छा काम न कर रही हो तो इस दोष से बचने का आधार भी दूसरा नहीं हो सकता। यह भावना मूल रूप से महावीरोपदेशित पराक्रम अथवा वीर्य से ही फलित होती है। जैनदर्शन स्पष्ट रूप से अपना उद्धार अपने से ही मानता है चाहे भले ही वह ईश्वर अथवा गुरु के आलम्बन की द्वैतवाणी का उच्चारण करता हो।

तृतीय पद

अवगुण ढाँकण काज, करूँ जिनमत क्रिया,
न तजूँ अवगुण चाल, अनादिनी जे प्रिया।
दृष्टिराग नो पोष, तेह समकित गणुँ;
स्याद्वादनी रीत, न देखुँ निज पणुँ ॥३॥

इस तृतीय पद में देवचन्द्र जी ने मात्र अपने जीवन का ही नहीं किन्तु अपने आसपास के सारे जैन समाज का हूबहू चित्र बिना किसी संकोच के और शर्म के चित्रित किया है। देवचन्द्र जी ने 'रत्नाकरपचीसी' का अनुवाद किया है। 'रत्नाकरपचीसी' का कर्त्ता भी अपने अवगुण का नग्न सत्य स्पष्ट रूप से बतलाता है। देवचन्द्र जी भी मानो इसी का अनुसरण करते हों उस ढंग से अपने रहन सहन को देख कर कहते हैं कि मैं साधु रूप से जो जीवनयापन करता हूँ वह मात्र दिखाने का ही है। मैं जो सम्प्रदाय-मान्य क्रियाकाण्ड की घाणी के आसपास फिरता हूँ वह मात्र लोगों को दिखाने के लिए ही है। स्थूलदर्शी लोग सामान्य रूप से ऊपर ऊपर के ही धार्मिक व्यवहारों को धर्म का रूप मान कर उन उन व्यवहारों को पालने वाले पुरुष को सच्चा धार्मिक मान लेते हैं। देवचन्द्र जी किसी की आँखों में धूल डालना नहीं चाहते क्योंकि वे अपने असली स्वरूप को देख रहे हैं। दूसरे न देख सकें ऐसे अपने अवगुण को जो स्वयं देखता है और वह देखने वाला, यदि सचमुच निर्भय और सत्यवादी होता है तो दूसरे उसको गुणी मानें तो भी वह अपने स्वरूप को देखने की और अपने दोष को निर्भयता से कह देने की शक्ति को ही आध्यात्मिक विकास का प्रथम सोपान मानता है। यद्यपि देवचन्द्र जी ने तीसरे पद में मात्र अपने स्वरूप का ही कथन किया है किन्तु लगभग सारा जैन समाज आज इसी स्थिति में है, यह कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

देवचन्द्र जी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि मैं स्वयं आध्यात्मिक विकास के प्रथम सोपान—सम्यग्दर्शन तक भी नहीं पहुँचा हूँ। समाज में वे साधु रूप से छठे गुण-स्थान के अधिकारी माने जाते हैं; ऐसी अवस्था में सब के सामने खुले दिल से कहना कि मैं तो चौथे गुण-स्थान में भी नहीं हूँ, क्या ऐसा वैसा प्रतिक्रमण है? हृदय में यह भाव यदि वास्तविक रूप से जगा हो तो यहीं से प्रतिक्रमण प्रारंभ होता है। मात्र प्रतिक्रमण के सूत्रों की अथवा उसकी विधि की माला फेरने से प्रतिक्रमण का कोई अर्थ नहीं निकलता, ऐसा देवचन्द्र जी स्पष्ट रूप से सूचित करते हैं। देवचन्द्र जी ने दृष्टि-राग के पोषण में सम्यग्दर्शन मान लेने की भ्रान्ति का जो घटस्फोट किया है वह जैन समाज में चलने वाली समकित देने की और उससे अपने बाड़े में चेले चेलियों रूप बकरे भरने की प्रथा के अनुभव का सूचनमात्र है। "मैं तेरा गुरु और तू मेरा चेला

अथवा चेली", इसी प्रकार से "हम आपके चेले अथवा चेलियें और आप हमारे गुरु" ऐसी दृष्टि-राग की पुष्टि से ही अखण्ड जैनत्व खंडित हुआ है और उसके टुकड़े टुकड़े होकर वह निर्जीव बन गया है। समाज और चतुर्विध संघ की दृष्टि से जो तत्त्व सर्वप्रथम है उसका सख्त विरोध करके अपने वास्तविक स्वरूप को दिखाकर देवचन्द्र जी ने सचमुच निर्भयता का पक्का परिचय दिया है। आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति का तथा सामाजिक दृष्टि से समष्टि का उद्धार करना हो और व्यवहार-दृष्टि से जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रतिष्ठा प्राप्त करनी हो तो उसका देवचन्द्र जी से स्वीकृत एक ही मार्ग है और वह यह कि अपने स्वरूप को जैसा हो वैसा दिखाना तथा मिथ्या दंभ का किसी भी अवस्था में सेवन न करना।

चतुर्थ पद

मन तनु चपल स्वभाव, वचन एकान्तता,
वस्तु अनन्त स्वभाव, न भासे जे छता;
जे लोकोत्तर देव, नमुं लौकिकथी,
दुर्लभ सिद्ध स्वभाव, प्रभो तहकीकथी ॥ ४ ॥

इस चतुर्थ पद के पूर्वार्ध में देवचन्द्र जी स्थिरता का मूल्यांकन करते हैं। मात्र आध्यात्मिक जीवन के विकास में ही नहीं किन्तु व्यावहारिक जीवन के एक एक प्रदेश में स्थिरता का महत्त्व है। अस्थिर मन से किया हुआ कोई भी कार्य सफल नहीं होता। वचन की अस्थिरता अर्थात् एक क्षण में कुछ और कहना और दूसरे क्षण में कुछ और। आगे पीछे के वचन में यदि कुछ भी मेल नहीं होता है तो सांसारिक लाभ और प्रतिष्ठा भी प्राप्त नहीं होते तो फिर आध्यात्मिक विकास की तो बात ही क्या कहनी? जो काम किया जाता है उसमें उसके साध्य की सिद्धि की दृष्टि से शरीर की स्थिरता भी आवश्यक होती है। इस प्रकार से किसी भी क्षेत्र में बुद्धि-पूर्वक स्थिरता ही सिद्धि की नींव होती है। इसीलिए 'योगशास्त्र' में स्थिरता पर ज्यादा ज़ोर दिया गया है। उपाध्याय यशोविजय जी जिस समय स्थिरता-अष्टक में इसके महत्त्व का वर्णन करते हैं उस समय चारित्र की व्याख्या में मुख्य रूप से स्थिरता का ही समावेश करते हैं। देवचन्द्र जी ने उपाध्याय जी के अष्टकों पर

टीका की है इसलिए स्थिरता का महत्त्व उनकी दृष्टि से बाहर नहीं रह सकता। यही कारण है कि उन्होंने पूर्वार्ध में कह दिया कि मेरे जीवन में जो मन, वचन और शरीर की अस्थिरता है और इस अस्थिरता के कारण से जो एकान्त दृष्टि की ओर झुकाव है वह सतत विद्यमान वस्तु स्वभाव का दर्शन नहीं होने देता। देवचन्द्र जी को असली दुःख तो इस बात का है कि वस्तु-स्थिति के सच्चे ज्ञान में अस्थिरता रोड़ा अटकाती है। तेरहवें और चौदहवें गुण-स्थान की अगोचर भूमिका की बात एक ओर रखी जाय तब भी देव-चन्द्र जी के कथन का रहस्य समझने योग्य है। वह रहस्य यही है कि यदि जैनत्व अथवा धार्मिकता को प्राप्त करना हो तो मन, वचन और काया की एकरूपता का सेवन करना चाहिए। सोचना एक, कहना दूसरा और करना तीसरा, ऐसी स्थिति कभी भी सत्य की ओर नहीं ले जा सकती।

इसी पद के उत्तरार्ध में देवचन्द्र जी एक दूसरे सामाजिक तत्त्व को प्रगट करके अपने अन्तर की वेदना का वर्णन करते हैं। सामान्य रूप से जैन समाज जिस समय देव के बारे में बातें करता है उस समय हमेशा यही कहा करता है कि जैन तो वीतराग के पूजक हैं, सराग के नहीं। जैनों की देव-विषयक मान्यता गुण-मूलक है, वैभव अथवा लालच अथवा भय-मूलक नहीं। तथापि आज हम समाज में जो कुछ देख रहे हैं वही देवचन्द्र जी ने अपने आसपास समाज में देखा और अपने को भी उसी में लिप्त पाया किन्तु उन्होंने इस कमी का आरोप समाज पर न लगाते हुए अपने पर ही लगाया। उन्होंने कहा कि मैं बातें तो लोकोत्तरदेव--वीतराग की करता हूँ, जिसके अन्दर राग-द्वेष की वृत्ति का लेश मात्र भी लेप नहीं है ऐसे ही व्यक्ति मेरे जीवन का आदर्श हैं, ऐसा सबके सामने कहा करता हूँ किन्तु जिस समय ऐसे आदर्श देव को नमस्कार करता हूँ, जिस समय उनकी प्रार्थना, स्तुति अथवा सेवा करता हूँ उस समय मन में तो ऐहिक लालच और भय ही रहता है। मुँह से वीतराग-सेवा की बात करना और अन्तर में भय अथवा लालच से कामना-सिद्धि की भावना रखना, ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। सच बात तो यह है कि वीतराग-सेवा में ऐसी किसी सांसारिक वासना को स्थान ही नहीं है और यदि है तो वह लोकोत्तर देव की भक्ति ही नहीं है। परपरंपरा के देव-देवियों को लौकिक कह कर उनकी पूजा को हीन बताना और स्वपरं-परा में ही लोकोत्तर देव का आदर्श है ऐसा कह कर भी उस लोकोत्तर देव

की पूजा में, लौकिक देवों की पूजा के जैसा ही मानस पुष्ट करना यह निरा साम्प्रदायिक दंभ है। इसी सामूहिक दंभ को देवचन्द्र जी ने अपने स्वरूप द्वारा सबके सामने रख दिया है जो कि सब के लिए समान रूप से शिक्षा-प्रद है।

पंचम पद

महाविदेह मजार, के तारक जिनवरु,
श्री वज्रधर अरिहंत, अनंतगुणाकरु,
ते निर्यामक श्रेष्ठ, सही मुज तारशे
महावैद्य गुणयोग, रोगभव वारशे ॥ ५ ॥

इस पंचम पद में देवचन्द्र जी अपने स्तुत्य देव वज्रधर स्वामी के प्रति पूर्ण विश्वास प्रगट करते हैं और इस विश्वास के बल पर ऐसा मानते हुए दिखाई देते हैं कि ये भगवान मुझे अवश्य तारेंगे और मेरी संसार-व्याधि मिटा देंगे।

षष्ठ पद

प्रभुमुख भव्यस्वभाव, सुणुं जो माहरो,
तो पामे प्रमोद, एह चेतन खरो;
थाये शिवपदआश, राशि सुखवृन्दनी,
सहज स्वतन्त्र स्वरूप, खाण आणंदनी ॥ ६ ॥

इस षष्ठ पद में जैन-परंपरा में प्रचलित एक मान्यता का उल्लेख है। मान्यता ऐसी है कि यदि साधक को 'मैं भव्य हूँ' ऐसा विश्वास हो तो उसका पुरुषार्थ आगे बढ़ सकता है और वह सिद्धि के लिए पूर्ण आशावान् बन सकता है। इस पद से प्रथम दृष्टि से ऐसा निर्णय होता है कि मानो देवचन्द्र जी को अपनी भव्यता के विषय में सन्देह हो और इसलिए सिद्धि की आशा ही नहीं बँधती हो। इस सन्देह की भूमिका पर देवचन्द्र जी भगवान से याचना करते हैं कि यदि आपके मुख से मैं अपने भव्य स्वभाव का विश्वास प्राप्त करलूँ तो मेरा सन्देह दूर हो जाय और सिद्धि-विषयक आशा दृढ़ हो जाय। यहाँ पर कवि जो भगवान् के मुख से भव्य स्वभाव सुनने की बात

करता है वह क्या भक्ति के अतिरेक में अथवा काव्य की ऊर्मि में बिल्कुल पागल होगया है कि जो इतना भी नहीं जानता कि भगवान मुझे अपने मुख से ऐसा नहीं कह सकते? कविता का शब्द-गुन्थन एक प्रकार का होता है और उसका तात्पर्य दूसरी प्रकार का होता है; इसलिये यहाँ पर ऐसा समझना चाहिए कि देवचन्द्र जी जब भगवान की स्तुति करते हैं उस समय ऐसी याचना द्वारा वास्तव में ऐसा चाहते हैं कि मेरे अन्तरपट पर जो संदेह का आवरण है वह आत्म-प्रदेश की गहराई में उत्पन्न हुए निश्चय द्वारा दूर हो! देवचन्द्र जी अपने ही आत्मनिर्णय को प्रचलित जैन-परंपरा की शैली का उपयोग करके व्यक्त करते हैं।

सप्तम पद

वलग्या जे प्रभुनाम, धाम ते गुणतणा,
धारो चेतनराम, एह चिर वासना;
देवचन्द्र जिनचन्द्र, हृदय स्थिर स्थापजो,
जिन आणायुत भक्ति, शक्ति मुज आपजो ॥ ७ ॥

इस सातवें पद में उपसंहार करते हुए देवचन्द्र जी मात्र दो चीजें बतलाते हैं। एक तो यह कि प्रभु के जितने भी नाम हैं वे सब गुण के धाम हैं। निश्चय दृष्टि से तो भगवान वचनागोचर हैं किन्तु उनके लिए काम में आनेवाले विशेषण अथवा नाम उनके एक एक गुण को प्रगट करते हैं, इसलिए देवचन्द्र जी ऐसे नाम ग्रहण करने की स्थिर वासना का सेवन करते हैं। दूसरी वस्तु एक याचना में ही समा जाती है। देवचन्द्र जी की प्रार्थना अथवा विनती यह है कि प्रभु मुझे भक्ति करने की शक्ति दें। उस भक्ति में पागलपन न आ जाय इसलिए वे जिन आज्ञा युक्त भक्तितत्त्व की याचना करते हैं। जिन-आज्ञा का अर्थ यहाँ पर स्थूल दृष्टि से नहीं लेना चाहिए क्योंकि उसमें पागलपन आने का डर रहता है। जिन-आज्ञा अर्थात् निश्चय दृष्टि से जीवन शुद्धि के मार्ग में आगे बढ़ते हुए साधक के अन्तरंग में से उठा हुआ शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग का अथवा तात्त्विक धर्मसंन्यास का अथवा क्षपकश्रेणी का आरोहणनाद, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए। श्रीमद् राजचन्द्र जिस समय:—

एह परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यान में,
गजा वगर नो हाल मनोरथ रूप जो;
तो पण निश्चय राजचन्द्र मनने रह्यो,
प्रभु आज्ञाए थाशुं तेज स्वरूप जो ॥

ऐसा कहते हैं उस समय उनको भी अन्तर का यही नाद प्रेरित कर रहा है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है । आनंदघन के एक पद की अन्तिम पंक्तियों में उनका अन्तर्नाद उनकी ही वाणी में इस प्रकार है :-

मरे अनन्त बार बिन समझे,
अब सुख दुख बिसरेंगे !
आनन्दघन निपट निकट अक्षर दो,
नहीं सुमरे सो मरेंगे !
अब हम अमर भये, न मरेंगे !

अनु०—मोहन लाल मेहता

जैन-संस्कृति का हृदय

संस्कृति का स्रोत—

संस्कृति का स्रोत ऐसे नदी के प्रवाह के समान है जो अपने प्रभवस्थान से अन्त तक अनेक दूसरे छोटे-मोटे जल-स्रोतों से मिश्रित, परिवर्धित और परिवर्तित होकर अनेक दूसरे मिश्रणों से भी युक्त होता रहता है और उद्गम-स्थान में पाये जानेवाले रूप, स्पर्श, गन्ध तथा स्वाद आदि में कुछ न कुछ परिवर्तन भी प्राप्त करता रहता है। जैन कहलाने वाली संस्कृति भी उस संस्कृति-सामान्य के नियय का अपवाद नहीं है। जिस संस्कृति को आज हम जैन-संस्कृति के नाम से पहचानते हैं उसके सर्व-प्रथम आविर्भावक कौन थे और उनसे वह पहिले-पहल किस स्वरूप में उद्गत हुई इसका पूरा-पूरा सही वर्णन करना इतिहास की सीमा के बाहर है। फिर भी उस पुरातन प्रवाह का जो और जैसा स्रोत हमारे सामने है तथा वह जिन अधारों के पट पर बहता चला आया है, उस स्रोत तथा उन साधनों के ऊपर विचार करते हुए हम जैन-संस्कृति का हृदय थोड़ा-बहुत पहिचान पाते हैं।

जैन-संस्कृति के दो रूप—

जैन-संस्कृति के भी, दूसरी संस्कृतियों की तरह, दो रूप हैं। एक बाह्य और दूसरा आन्तर। बाह्य रूप वह है जिसे उस संस्कृति के अलावा दूसरे लोग भी आँख कान आदि बाह्य इन्द्रियों से जान सकते हैं। पर संस्कृति का आन्तर स्वरूप ऐसा नहीं होता। क्योंकि किसी भी संस्कृति के आन्तर स्वरूप का साक्षात् आकलन तो सिर्फ़ उसी को होता है जो उसे अपने जीवन में तन्मय कर ले। दूसरे लोग उसे जानना चाहें तो साक्षात् दर्शन कर नहीं सकते। पर उस आन्तर संस्कृतिमय जीवन बिताने वाले पुरुष या पुरुषों के जीवन-व्यवहारों से तथा आस-पास के वातावरण पर पड़ने वाले उनके असरों से वे किसी भी आन्तर संस्कृति का अन्दाज़ा लगा सकते हैं। यहाँ मुझे मुख्यतया जैन-संस्कृति के उस आन्तर रूप का या हृदय का ही परिचय देना है, जो बहुधा अभ्यासजनित कल्पना तथा अनुमान पर ही निर्भर है।

जैन-संस्कृति का बाह्य स्वरूप—

जैन संस्कृति के बाहरी स्वरूप में, अन्य संस्कृतियों के बाहरी स्वरूप की तरह अनेक वस्तुओं का समावेश होता है। शास्त्र, उसकी भाषा, मन्दिर, उसका स्थापत्य; मूर्ति-विधान, उपासना के प्रकार, उसमें काम आने वाले उपकरण तथा द्रव्य, समाज के खानपान के नियम, उत्सव, त्यौहार आदि अनेक विषयों का जैन समाज के साथ एक निराला सम्बन्ध है और प्रत्येक विषय अपना खास इतिहास भी रखता है। ये सभी बातें बाह्यसंस्कृति की अंग हैं पर यह कोई नियम नहीं है कि जहां-जहाँ और जब ये तथा ऐसे दूसरे अंग मौजूद हों वहाँ और तब उसका हृदय भी अवश्य होना ही चाहिये। बाह्य अंगों के होते हुए भी कभी हृदय नहीं रहता और बाह्य अंगों के अभाव में भी संस्कृति का हृदय संभव है। इस दृष्टि को सामने रखकर विचार करने वाला कोई भी व्यक्ति भली भांति समझ सकेगा कि जैन-संस्कृति का हृदय, जिसका वर्णन मैं यहाँ करने जा रहा हूँ वह केवल जैन समाजजात और जैन कहलाने वाले व्यक्तियों में ही संभव है ऐसी कोई बात नहीं है। सामान्य लोग जिन्हें जैन समझते हैं, या जो अपने को जैन कहते हैं, उनमें अगर आन्तिरिक योग्यता न हो तो वह हृदय संभव नहीं और जैन नहीं कहलाने वाले व्यक्तियों में भी अगर वास्तविक योग्यता हो तो वह हृदय संभव है। इस तरह जब संस्कृति का बाह्य रूप समाज तक ही सीमित होने के कारण अन्य समाज में सुलभ नहीं होता तब संस्कृति का हृदय उस समाज के अनुयायिओं की तरह इतर समाज के अनुयायिओं में भी—संभव होता है। सच तो यह है कि संस्कृति का हृदय या उसकी आत्मा इतनी व्यापक और स्वतन्त्र होती है कि उसे देश, काल, जात-पाँत, भाषा और रीति-रस्म आदि न तो सीमित कर सकते हैं और न अपने साथ बांध सकते हैं।

जैन-संस्कृति का हृदय—निवर्त्तक धर्म—

अब प्रश्न यह है कि जैन-संस्कृति का हृदय क्या चीज है? इसका संक्षिप्त जवाब तो यही है कि निवर्त्तक धर्म जैन संस्कृति की आत्मा है। जो धर्म निवृत्ति कराने वाला अर्थात् पुनर्जन्म के चक्र का नाश कराने वाला हो या उस निवृत्ति के साधन रूप से जिस धर्म का आविर्भाव विकास और प्रचार हुआ हो वह निवर्तक धर्म कहलाता है। इसका असली अर्थ समझने के लिये हमें प्राचीन किन्तु समकालीन इतर धर्म-स्वरूपों के बारे में थोड़ा सा विचार करना होगा।

धर्मों का वर्गीकरण—

इस समय जितने भी धर्म दुनियां में जीवित हैं या जिनका थोड़ा-बहुत इतिहास मिलता है, उन सब के आन्तरिक स्वरूप का अगर वर्गीकरण किया जाय तो वह मुख्यतया तीन भागों मे विभाजित होता है।

१—पहला वह है, जो मौजूदा जन्म का ही विचार करता है।

२—दूसरा वह है जो मौजूदा जन्म के अलावा जन्मान्तर का भी विचार करता है।

३—तीसरा वह है जो जन्म-जन्मान्तर के उपरान्त उसके नाश का या उच्छेद का भी विचार करता है।

अनात्मवाद—

आज की तरह बहुत पुराने समय में भी ऐसे विचारक लोग थे जो वर्तमान जीवन में प्राप्त होनेवाले सुख के उस पार किसी अन्य सुख की कल्पना से न तो प्रेरित होते थे और न उसके साधनों की खोज में समय बिताना ठीक समझते थे। उनका ध्येय वर्तमान जीवन का सुख-भोग ही था। और वे इसी ध्येय की पूर्ति के लिये सब साधन जुटाते थे। वे समझते थे कि हम जो कुछ हैं वह इसी जन्म तक है और मृत्यु के बाद हम फिर जन्म ले नहीं सकते। बहुत हुआ तो हमारे पुनर्जन्म का अर्थ हमारी सन्तति का चालू रहना है। अतएव हम जो अच्छा करेंगे उसका फल इस जन्म के बाद भोगने के वास्ते हमें उत्पन्न होना नहीं है। हमारे किये का फल हमारी सन्तान या हमारा समाज भोग सकता है। इसे पुनर्जन्म कहना हो तो हमें कोई आपत्ति नहीं। ऐसा विचार करने वाले वर्ग को हमारे प्राचीनतम शास्त्रों में भी अनात्मवादी या नास्तिक कहा गया है। वही वर्ग कभी आगे जा कर चार्वाक कहलाने लगा। इस वर्ग की दृष्टि में साध्य-पुरुषार्थ एक मात्र काम अर्थात् सुख-भोग ही है। उसके साधन रूप से वह वर्ग धर्म की कल्पना नहीं करता या धर्म नाम से तरह-तरह के विधि-विधानों पर विचार नहीं करता। अतएव इस वर्ग को एक मात्र काम-पुरुषार्थी या बहुत हुआ तो काम और अर्थ उभयपुरुषार्थी कह सकते हैं।

प्रवर्तक-धर्म—

दूसरा विचारक वर्ग शारीरिक जीवनगत सुख को साध्य तो मानता है पर वह मानता है कि जैसा मौजूदा जन्म में सुख सम्भव है वैसे ही प्राणी मर कर

फिर पुनर्जन्म ग्रहण करता है और इस तरह जन्म जन्मान्तर में शारीरिक-मानसिक सुखों के प्रकर्ष-अपकर्ष की शृंखला चल रही है। जैसे इस जन्म में वैसे ही जन्मान्तर में भी हमें सुखी होना हो, या अधिक सुख पाना हो, तो इसके वास्ते हमें धर्मानुष्ठान भी करना होगा। अर्थोपार्जन आदि साधन वर्तमान जन्म में उपकारक भले ही हो पर जन्मान्तर के उच्च और उच्चतर सुख के लिये हमें धर्मानुष्ठान अवश्य करना होगा। ऐसी विचार-सरणी वाले लोग तरह-तरह के धर्मानुष्ठान करते थे और उसके द्वारा परलोक तथा लोकान्तर के उच्च सुख पाने की इच्छा भी रखते थे। यह वर्ग आत्मवादी और पुनर्जन्मवादी तो है ही पर उसकी कल्पना जन्म-जन्मान्तर में अधिकाधिक सुख पाने की तथा प्राप्त सुख को अधिक-से-अधिक समय तक स्थिर रखने की होने से उसके धर्मानुष्ठानों को प्रवर्तक-धर्म कहा गया है। प्रर्वतक धर्म का संक्षेप में सार यह है कि जो और जैसी समाज व्यवस्था हो उसे इस तरह नियम और कर्तव्य-वद्ध वनाना कि जिससे समाज का प्रत्येक सभ्य अपनी-अपनी स्थिति और कक्षा में सुखलाभ करे और साथ ही ऐसे जन्मान्तर की तैयारी करे कि जिससे दूसरे जन्म में भी वह वर्तमान जन्म की अपेक्षा अधिक और स्थायी-सुख पा सके। प्रवर्तक-धर्म का उद्देश्य समाज व्यवस्था के साथ-साथ जन्मान्तर का सुधार करना है, न कि जन्मान्तर का उच्छेद। प्रवर्तक-धर्म के अनुसार काम, अर्थ और धर्म, तीन पुरुषार्थ हैं। उसमें मोक्ष नामक चौथे पुरुषार्थ की कोई कल्पना नहीं है। प्राचीन ईरानी आर्य जो अवस्ता को धर्मग्रन्थ मानते थे और प्राचीन वैदिक आर्य जो मन्त्र और ब्राह्मणरूप वेद भाग को ही मानते थे, वे सव उक्त प्रर्वतक-धर्म के अनुयायी हैं। आगे जाकर वैदिक दर्शनों में जो मीमांसादर्शन नाम से कर्मकाण्डी दर्शन प्रसिद्ध हुआ वह प्रर्वतक-धर्म का जीवित रूप है।

निवर्तक धर्म—

निवर्तक-धर्म ऊपर सूचित प्रवर्तक-धर्म का विल्कुल विरोधी है। जो विचारक इस लोक के उपरान्त लोकान्तर और जन्मान्तर मानने के साथ-साथ उस जन्मचक्र को धारण करनेवाली आत्मा को प्रवर्तक-धर्म वादियों की तरह तो मानते ही थे; पर साथ ही वे जन्मान्तर में प्राप्य उच्च, उच्चतर और चिर-स्थायी सुख से सन्तुष्ट न थे। उनकी दृष्टि यह थी कि इस जन्म या जन्मान्तर में कितना ही ऊँचा सुख क्यों न मिले, वह कितने ही दीर्घ काल तक क्यों न स्थिर रहे पर अगर वह सुख कभी न कभी नाश पाने वाला है तो फिर वह

उच्च और चिरस्थायी सुख भी अन्त में निकृष्ट सुख की कोटि का होने से उपादेय हो नहीं सकता। वे लोग ऐसे किसी सुख की खोज में थे जो एक बार प्राप्त होने के बाद कभी नष्ट न हो। इस खोज की सूझने उन्हें मोक्ष पुरुषार्थ मानने के लिये बाधित किया। वे मानने लगे कि एक ऐसी भी आत्मा की स्थिति संभव है जिसे पाने के बाद फिर कभी जन्म-जन्मान्तर या देह-धारण करना नहीं पड़ता। वे आत्मा की उस स्थिति को मोक्ष या जन्म-निवृत्ति कहते थे। प्रवर्तक-धर्मानुयायी जिन उच्च और उच्चतर धार्मिक अनुष्ठानों से इस लोक तथा परलोक के उत्कृष्ट सुखों के लिये प्रयत्न करते थे उन धार्मिक अनुष्ठानों को निवर्तक-धर्मानुयायी अपने साध्य मोक्ष या निवृत्ति के लिए न केवल अपर्याप्त ही समझते बल्कि वे उन्हें मोक्ष पाने में बाधक समझ कर उन सब धार्मिक अनुष्ठानों को आत्यन्तिक हेय बतलाते थे। उद्देश्य और दृष्टि में पूर्व-पश्चिम जितना अन्तर होने से प्रवर्तक-धर्मानुयायिओं के लिए जो उपादेय वही निवर्तक-धर्मानुयायिओं के लिए हेय बन गया। यद्यपि मोक्ष के लिए प्रवर्तक-धर्म बाधक माना गया पर साथ ही मोक्षवादियों को अपने साध्य मोक्ष-पुरुषार्थ के उपाय रूप से किसी सुनिश्चित मार्ग की खोज करना भी अनिवार्य रूप से प्राप्त था। इस खोज की सूझ ने उन्हें एक ऐसा मार्ग, एक ऐसा उपाय सूझाया जो किसी बाहरी साधन पर निर्भर न था। वह एक मात्र साधक की अपनी विचारशुद्धि और वर्तन शुद्धि पर अवलंबित था। यही विचार और वर्तन की आत्यन्तिक शुद्धि का मार्ग निवर्तक धर्म के नाम से या मोक्ष-मार्ग के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

हम भारतीय संस्कृति के विचित्र और विविध तानेबाने की जांच करते हैं तब हमें स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि भारतीय आत्मवादी दर्शनों में कर्म-काण्डी मीमांसक के अलावा सभी निवर्तक धर्मवादी हैं। अवैदिक माने जानेवाले बौद्ध और जैन दर्शन की संस्कृति तो मूल में निवर्तक-धर्म स्वरूप है ही पर वैदिक समझे जाने वाले न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा औपनिषद दर्शन की आत्मा भी निवर्तक-धर्म पर ही प्रतिष्ठित है। वैदिक हो या अवैदिक सभी निवर्तक-धर्म प्रवर्तक-धर्म को या यज्ञयागादि अनुष्ठानों को अन्त में हेय ही बतलाते हैं। और वे सभी सम्यक्-ज्ञान या आत्म-ज्ञान को तथा आत्म-ज्ञान मूलक अनासक्त जीवन-व्यवहार को उपादेय मानते हैं। एवं उसी के द्वारा पुनर्जन्म के चक्र से छुट्टी पाना सम्भव बतलाते हैं।

समाजगामी प्रवर्तक-धर्म—

ऊपर सूचित किया जा चुका है कि प्रवर्तक-धर्म समाजगामी था। इसका

मतलब यह था कि प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहकर ही सामाजिक कर्तव्य जो ऐहिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं और धार्मिक कर्तव्य जो पारलौकिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, उनका पालन करे। प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही ऋषि-ऋण अर्थात् विद्याध्ययन आदि, पितृ-ऋण अर्थात संतति-जननादि और देव-ऋण अर्थात् यज्ञयागादि बन्धनों से आवद्ध है। व्यक्ति को सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों का पालन करके अपनी कृपण इच्छा का संशोधन करना इष्ट है। पर उसका निर्मूल नाश करना न शक्य और न इष्ट। प्रवर्तक-धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम ज़रूरी है उसे लांघ कर कोई विकास कर नहीं सकता।

व्यक्तिगामी निवर्तक धर्म—

निवर्तक-धर्म व्यक्तिगामी है। वह आत्मसाक्षात्कार की उत्कृष्ट वृत्ति में से उत्पन्न होने के कारण जिज्ञासु को आत्म तत्त्व है या नहीं, है तो वह कैसा है, उसका अन्य के साथ कैसा संबंध है, उसका साक्षात्कार संभव है तो किन-किन उपायों से संभव है, इत्यादि प्रश्नों की ओर प्रेरित करता है। ये प्रश्न ऐसे नहीं हैं कि जो एकान्त-चिन्तन, ध्यान, तप और असंगतापूर्ण जीवन के सिवाय सुलझ सकें। ऐसा सच्चा जीवन खास व्यक्तियों के लिए ही संभव हो सकता है। उसका समाजगामी होना संभव नहीं। इस कारण कर्तव्य धर्म की अपेक्षा निवर्तक-धर्म का क्षेत्र शुरू में बहुत परिमित रहा। निवर्तक-धर्म के लिए गृहस्थाश्रम का बन्धन था ही नहीं। वह गृहस्थाश्रम बिना किए भी व्यक्ति को सर्वत्याग की अनुमति देता है। क्योंकि उसका आधार इच्छा का संशोधन नहीं पर उसका निरोध है। अतएव प्रवर्तक-धर्म समस्त सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों से बद्ध होने की बात नहीं मानता। उसके अनुसार व्यक्ति के लिए मुख्य कर्तव्य एक ही है और वह यह कि जिस तरह हो आत्मसाक्षात्कार का और उसमें रुकावट डालने वाली इच्छा के नाश का प्रयत्न करे।

निवर्तक-धर्म का प्रभाव व विकास—

जान पड़ता है इस देश में जब प्रवर्तक-धर्मानुयायी वैदिक आर्य पहले-पहल आए तब भी कहीं इस देश में निवर्तक-धर्म एक या दूसरे रूप में प्रचलित था। शुरू मे इन दो धर्म संस्थाओं के विचारों में पर्याप्त संघर्ष रहा। पर निवर्तक-धर्म के इने गिने सच्चे अनुगामियों की तपस्या, ध्यान-प्रणाली और असंगचर्या का साधारण जनता पर जो प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ रहा था उसने

प्रवर्तक-धर्म के कुछ अनुगामिओं को भी अपनी ओर खींचा और निवर्तक-धर्म की संस्थाओं का अनेक रूप में विकास होना शुरू हुआ। इसका प्रभावकारी फल अन्त में यह हुआ कि प्रवर्तक-धर्म के आधार रूप जो ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो आश्रम माने जाते थे उनके स्थान में प्रवर्तक-धर्म के पुरस्कर्ताओं ने पहले तो वानप्रस्थ सहित तीन और पीछे संन्यास सहित चार आश्रमों को जीवन में स्थान दिया। निवर्तक-धर्म की अनेक संस्थाओं के बढ़ते हुए जनव्यापी प्रभाव के कारण अन्त में तो यहां तक प्रवर्तक धर्मानुयायी ब्राह्मणों ने विधान मान लिया कि गृहस्थाश्रम के बाद जैसे संन्यास न्यायप्राप्त है वैसे ही अगर तीव्र वैराग्य हो तो गृहस्थाश्रम विना किए भी सीधे ही ब्रह्मचर्याश्रिम से प्रव्रज्यामार्ग न्याय-प्राप्त है। इस तरह जो प्रवर्तक-धर्म का जीवन में समन्वय स्थिर हुआ उसका फल हम दार्शनिक साहित्य और प्रजाजीवन में आज भी देखते हैं।

समन्वय और संघर्षण—

जो तत्त्वज्ञ ऋषि प्रवर्तक-धर्म के अनुयायी ब्राह्मणों के वंशज होकर भी निवर्तक-धर्म को पूरे तौर से अपना चुके थे उन्होंने चिन्तन और जीवन में निवर्तक-धर्म का महत्त्व व्यक्त किया। फिर भी उन्होंने अपनी पैत्रिक संपत्ति रूप प्रवर्तक-धर्म और उसके आधारभूत वेदों का प्रामाण्य मान्य रखा। न्याय-वैशेषिक दर्शन के और औपनिषद दर्शन के आद्य द्रष्टा ऐसे ही तत्त्वज्ञ ऋषि थे। निवर्तक-धर्म के कोई-कोई पुरस्कर्ता ऐसे भी हुए कि जिन्होंने तप, ध्यान और आत्मसाक्षात्कार के बाधक क्रियाकांड का तो आत्यंतिक विरोध किया पर उस क्रियाकाण्ड की आधारभूत श्रुति का सर्वथा विरोध नहीं किया। ऐसे व्यक्तिओं में सांख्य दर्शन के आदि पुरुष कपिल आदि ऋषि थे। यही कारण है कि मूल में सांख्य-योगदर्शन प्रवर्तक धर्म का विरोधी होने पर भी अन्त में वैदिक दर्शनों में समा गया।

समन्वय की ऐसी प्रक्रिया इस देश में शताब्दियों तक चली। फिर कुछ ऐसे आत्यन्तिकवादी दोनों धर्मों में होते रहे कि वे अपने-अपने प्रवर्तक या निवर्तक धर्म के अलावा दूसरे पक्ष को न मानते थे, और न युक्त बतलाते थे। भगवान् महावीर और बुद्ध के पहले भी ऐसे अनेक निवर्तक-धर्म के पुरस्कर्ता हुए हैं। फिर भी महावीर और बुद्ध के समय में तो इस देश में निवर्तक-धर्म की पोषक ऐसी अनेक संस्थाएँ थीं और दूसरी अनेक ऐसी नई पैदा हो रही थीं कि जो प्रवर्तक-धर्म का उग्रता से विरोध करती थीं। अब तक नीच से ऊँच

तक के वर्गों में निवर्तक-धर्म की छाया में विकास पानेवाले विविध तपोनुष्ठान, विविध ध्यान-मार्ग और नानाविध त्यागमय आचारों का इतना अधिक प्रभाव फैलने लगा था कि फिर एक बार महावीर और बुद्ध के समय में प्रवर्तक और निवर्तक धर्म के बीच प्रवल विरोध की लहर उठी जिसका सबूत हम जैन बौद्ध वाङ्मय तथा समकालीन ब्राह्मण वाङ्मय में पाते हैं। तथागत बुद्ध ऐसे पक्व विचारक और दृढ़ थे कि जिन्होंने किसी भी तरह से अपने निवर्तक-धर्म में प्रवर्तक-धर्म के आधारभूत मन्तव्यों और शास्त्रों को आश्रय नहीं दिया। दीर्घ तपस्वी महावीर भी ऐसे ही कट्टर निवर्तक-धर्मी थे। अतएव हम देखते हैं कि पहिले से आज तक जैन और बौद्ध सम्प्रदाय में अनेक वेदानुयायी विद्वान् ब्राह्मण दीक्षित हुए फिर भी उन्होंने जैन और बौद्ध वाङ्मय में वेद के प्रामाण्य स्थापन का न कोई प्रयत्न किया और न किसी ब्राह्मणग्रन्थविहित यज्ञयागादि कर्मकाण्ड को मान्य रक्खा।

निवर्तक-धर्म के मन्तव्य और आचार—

शताब्दियों ही नहीं वलिक सहस्राब्दि पहिले से लेकर जो धीरे-धीरे निवर्तक धर्म के अङ्ग-प्रत्यङ्ग रूप से अनेक मन्तव्यों और आचारों का महावीर-बुद्ध तक के समय में विकास हो चुका था वे संक्षेप में ये हैं—१ आत्मशुद्धि ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है, न कि ऐहिक या परलौकिक किसी भी पद का महत्त्व २—इस उद्देश्य की पूर्ति में वाधक आध्यात्मिक मोह, अविद्या और तज्जन्य तृष्णा का मूलोच्छेद करना। ३—इसके लिए आध्यात्मिक ज्ञान और उसके द्वारा सारे जीवन व्यवहार को पूर्ण निस्तृष्ण वनाना। इसके वास्ते शारीरिक, मानसिक, वाचिक, विविध तपस्याओं का तथा नाना प्रकार के ध्यान, योग-मार्ग का अनुसरण और तीन चार या पाँच महाव्रतों का याव-ज्जीवन अनुष्ठान। ४—किसी भी अध्यात्मिक अनुभव वाले मनुष्य के द्वारा किसी भी भाषा में कहे गये आध्यात्मिक वर्णनवाले वचनों को ही प्रमाण रूप से मानना, न कि ईश्वरीय या अपौरुषेय रूप से स्वीकृत किसी खास भाषा में रचित ग्रन्थों को। ५—योग्यता और गुरुपद की कसौटी एक मात्र जीवन की आध्यात्मिक शुद्धि, न कि जन्मसिद्ध वर्ण विशेष। इस दृष्टि से स्त्री और शूद्र तक का धर्माधिकार उतना ही है, जितना एक ब्राह्मण और क्षत्रिय पुरुष का। ६—मद्य मांस आदि का धार्मिक और सामाजिक जीवन में निषेध। ये तथा इनके जैसे लक्षण जो प्रवर्तक-धर्म के आचारों और विचारों से जुदा पड़ते थे वे देश में जड़ जमा चुके थे और दिन-व-दिन विशेष वल पकड़ते जाते थे।

निग्रन्थ-सम्प्रदाय—

कमोवेश उक्त लक्षणों को धारण करनेवाली अनेक संस्थाओं और सम्प्रदायों में एक ऐसा पुराना निवर्तक-धर्मी सम्प्रदाय था जो महावीर के पहिले वहुत शताब्दिओं से अपने खास ढङ्ग से विकास करता जा रहा था। उसी सम्प्रदाय में पहिले नाभिनन्दन ऋषभदेव, यदुनन्दन नेमिनाथ और काशीराजपुत्र पार्श्वनाथ हो चुके थे, या वे उस सम्प्रदाय में मान्य पुरुष वन चुके थे। उस सम्प्रदाय के समय-समय पर अनेक नाम प्रसिद्ध रहे। यति, भिक्षु, मुनि, अनगार श्रमण आदि जैसे नाम तो उस सम्प्रदाय के लिए व्यवहृत होते थे पर जब दीर्घ-तपस्वी महावीर उस सम्प्रदाय के मुखिया बने तब सम्भवत: वह सम्प्रदाय निर्ग्रन्थ नाम से विशेष प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि निवर्तक-धर्मानुयायी पन्थों में ऊंची आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँचे हुए व्यक्ति के वास्ते 'जिन' शब्द साधारण रूप से प्रयुक्त होता था। फिर भी भगवान् महावीर के समय में और उनके कुछ समय बाद तक भी महावीर का अनुयायी साधु या गृहस्थ वर्ग 'जैन' (जिनानुयायी) नाम से व्यवहृत नहीं होता था। आज जैन शब्द से महावीर पोषित सम्प्रदाय के 'त्यागी' 'गृहस्थ' सभी अनुयायिओं का जो बोध होता है इसके लिए पहले 'निगंथ' और 'समणोवासग' आदि जैन शब्द व्यवहृत होते थे।

जैन और बौद्ध सम्प्रदाय—

इस निर्ग्रन्थ या जैन सम्प्रदाय में ऊपर सूचित निवृत्ति-धर्म के सब लक्षण वहुधा थे ही पर इसमें ऋषभ आदि पूर्वकालीन त्यागी महापुरुषों के द्वारा तथा अन्त में ज्ञातपुत्र महावीर के द्वारा विचार और आचारगत ऐसी छोटी बड़ी अनेक विशेषताएं आई थीं व स्थिर हो गई थीं कि जिनसे ज्ञातपुत्र-महावीरपोषित यह सम्प्रदाय दूसरे निवृत्तिगामी सम्प्रदायों से खास जुदारूप धारण किए हुये था। यहाँ तक कि यह जैन सम्प्रदाय बौद्ध सम्प्रदाय से भी खास फ़र्क़ रखता था। महावीर और बुद्ध न केवल समकालीन ही थे बल्कि वे बहुधा एक ही प्रदेश में विचरने वाले तथा समान और समकक्ष अनुयायिओं को एक ही भाषा में उपदेश करते थे। दोनों के मुख्य उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं था फिर भी महावीरपोषित और बुद्धसंचालित सम्प्रदायों में शुरू से ही खास अन्तर रहा जो ज्ञातव्य है। बौद्ध सम्प्रदाय बुद्ध को ही आदर्श रूप से पूजता है तथा बुद्ध के ही उपदेशों का आदर करता है जब कि जैन सम्प्रदाय महावीर आदि को इष्ट देव मानकर उन्हीं के वचनों को मान्य रखता है। बौद्ध चित्तशुद्धि के लिये ध्यान और मानसिक संयम पर जितना जोर देते हैं उतना जोर बाह्य तप और

देहदमन पर नहीं। जैन ध्यान और मानसिक संयम के अलावा देहदमन पर भी अधिक जोर देते रहे। बुद्ध का जीवन जितना लोगों में हिलने-मिलनेवाला तथा उनके उपदेश जितने अधिक सीधे-सादे लोकसेवागामी हैं वैसा महावीर का जीवन तथा उपदेश नहीं हैं। बौद्ध अनगार की बाह्यचर्या उतनी नियन्त्रित नहीं रही जितनी जैन अनगारों की। इसके सिवाय और भी अनेक विशेषताएं हैं जिनके कारण बौद्ध सम्प्रदाय भारत के समुद्र और पर्वतों की सीमा लांघ कर उस पुराने समय में भी अनेक भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी, सभ्य-असभ्य जातियों में दूर दूर तक फैला और करोड़ों अभारतीयों ने भी बौद्ध आचार-विचार को अपने अपने ढंग से अपनी-अपनी भाषा में उतारा व अपनाया जब कि जैन सम्प्रदाय के विषय में ऐसा नहीं हुआ।

यद्यपि जैन सम्प्रदाय ने भारत के बाहर स्थान नहीं जमाया फिर भी वह भारत के दूरवर्ती सब भागों में धीरे धीरे न केवल फैल ही गया बल्कि उसने अपनी कुछ खास विशेषताओं की छाप प्रायः भारत के सभी भागों पर थोड़ी बहुत जरूर डाली। जैसे-जैसे जैन सम्प्रदाय पूर्व से उत्तर और पश्चिम तथा दक्षिण की ओर फैलता गया वैसे-वैसे उस प्रवर्तक-धर्म वाले तथा निवृत्ति-पंथी अन्य सम्प्रदाओं के साथ थोड़े-बहुत संघर्प में भी आना पड़ा। इस संघर्ष में कभी तो जैन आचार-विचारों का असर दूसरे सम्प्रदायों पर पड़ा और कभी दूसरे सम्प्रदायों के आचार-विचारों का असर जैन सम्प्रदाय पर भी पड़ा। यह क्रिया किसी एक ही समय में या एक ही प्रदेश में किसी एक ही व्यक्ति के द्वारा सम्पन्न नहीं हुई। बल्कि दृश्य अदृश्य रूप में हज़ारों वर्ष तक चलती रही और आज भी चालू है। पर अन्त में जैन सम्प्रदाय और दूसरे भारतीय अभारतीय सभी धर्म-सम्प्रदायों का स्थायी, सहिष्णुतापूर्ण समन्वय सिद्ध हो गया है जैसा कि एक कुटुम्ब के भाइयों में होकर रहता है। इस पीढ़ियों के समन्वय के कारण साधारण लोग यह जान ही नहीं सकते कि उसके धार्मिक आचार-विचार की कौन सी बात मौलिक है और कौन सी दूसरों के संसर्ग का परिणाम है। जैन आचार-विचार का जो असर दूसरों पर पड़ा है उसका दिग्दर्शन करने के पहिले दूसरे सम्प्रदायों के आचार-विचार का जैन-मार्ग पर जो असर पड़ा है उसे संक्षेप में बतलाना ठीक होगा जिससे कि जैन संस्कृति का हार्द सरलता से समझा जा सके।

अन्य संप्रदायों का जैन-संस्कृति पर प्रभाव—

इन्द्र, वरुण आदि स्वर्गीय देव-देवियों की स्तुति, उपासना के स्थान में जैनों

का आदर्श है निष्कलंक मनुष्य की उपासना। पर जैन आचार-विचार में बहिष्कृत देव देवियाँ पुनः गौण रूप से ही सही, स्तुति प्रार्थना द्वारा घुस ही गईं, जिसका की जैन संस्कृति के उद्देश्य के साथ कोई भी मेल नहीं है। जैन-परंपरा ने उपसना में प्रतीक रूप से मनुष्य मूर्ति को स्थान तो दिया, जो कि उसके उद्देश्य के साथ संगत है पर साथ ही उसके आस-पास श्रृंगार व आडम्बर का इतना संभार आगया जो कि निवृत्ति के लक्ष्य के साथ बिलकुल असंगत है। स्त्री और शूद्र को आध्यात्मिक समानता के नाते ऊँचा उठाने का तथा समाज में संमान व स्थान दिलाने का जो जैन संस्कृति का उद्देश्य रहा वह यहाँ तक लुप्त हो गया कि न केवल उसने शूद्रों को अपनाने की क्रिया ही बन्द कर दी बल्कि उसने ब्राह्मण-धर्म-प्रसिद्ध जाति की दीवारें भी खड़ी कीं। यहाँ तक कि जहाँ ब्राह्मण-परंपरा का प्राधान्य रहा वहां तो उसने अपने घेरे में से भी शूद्र कहलाने वाले लोगों को अजैन कहकर बाहर कर दिया और शुरू में जैन संस्कृति जिस जाति-भेद का विरोध करने में गौरव समझी थी उसने दक्षिण जैसे देशों में नये जाति-भेद की सृष्टि कर दी तथा स्त्रियों को पूर्ण आध्यात्मिक योग्यता के लिये असमर्थ करार दिया जो कि स्पष्टतः कट्टर ब्राह्मण-परंपरा का ही असर है। मन्त्र-ज्योतिष आदि विद्याएँ जिनका जैन संस्कृति के ध्येय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं वे भी जैन संस्कृति में आईं। इतना ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक जीवन स्वीकार करने वाले अनगारों तक ने उन विद्याओं को अपनाया। जिन यज्ञोपवीत आदि संस्कारों का मूल में जैन संस्कृति के साथ कोई सम्बन्ध न था वे ही दक्षिण हिन्दुस्तान में मध्यकाल में जैन-संस्कृति का एक अंग बन गये और इसके लिये ब्राह्मण-परंपरा की तरह जैन-परंपरा में भी एक पुरोहित वर्ग क़ायम हो गया। यज्ञयागादि की ठीक नक़ल करने वाले क्रियाकाण्ड प्रतिष्ठा आदि विधियों में आ गये। ये तथा ऐसी दूसरी अनेक छोटी-मोटी बातें इसलिये घटीं की जैन-संस्कृति को उन साधारण अनुयायिओं की रक्षा करनी थी जो कि दूसरे विरोधी सम्प्रदायों में से आकर उसमें शरीक होते थे, या दूसरे सम्प्रदायों के आचार-विचारों से अपने को बचा न सकते थे। अब हम थोड़े में यह भी देखेंगे कि जैन-संस्कृति का दूसरों पर क्या ख़ास असर पड़ा।

जैन-संस्कृति का प्रभाव—

यों तो सिद्धांततः सर्वभूतदया को सभी मानते हैं पर प्राणिरक्षा के ऊपर जितना ज़ोर जैन-परंपरा ने दिया, जितनी लगन से उसने इस विषय में काम किया उसका नतीजा सारे ऐतिहासिक युग में यह रहा है कि जहां-जहां औ

जब जब जैन लोगों का एक या दूसरे क्षेत्र में प्रभाव रहा सर्वत्र आम जनता पर प्राणिरक्षा का प्रबल संस्कार पड़ा है। यहां तक कि भारत के अनेक भागों में अपने को अजैन कहने वाले तथा जैन-विरोधी समझने वाले साधारण लोग भी जीव-मात्र की हिंसा से नफ़रत करने लगे हैं। अहिंसा के इस सामान्य संस्कार के ही कारण अनेक वैष्णव आदि जैनेतर परम्पराओं के आचार-विचार पुरानी वैदिक परम्परा से बिलकुल जुदा हो गए हैं। तपस्या के बारे में भी ऐसा ही हुआ है। त्यागी हो या गृहस्थ सभी जैन तपस्या के ऊपर अधिकाधिक झुकते रहे हैं। इसका फल पड़ोसी समाजों पर इतना अधिक पड़ा है कि उन्होंने भी एक या दूसरे रूप से अनेकविधि सात्विक तपस्याएं अपना ली हैं। और सामान्यरूप से साधारण जनता जैनों की तपस्या की ओर आदरशील रही है। यहाँ तक की अनेक बार मुसलमान सम्राट् तथा दूसरे समर्थ अधिकारियों ने तपस्या से आकृष्ट हो कर जैन-सम्प्रदाय का बहुमान ही नहीं किया है बल्कि उसे अनेक सुविधाएँ भी दी हैं, मद्यमांस आदि सात व्यसनों को रोकने तथा उन्हें घटाने के लिये जैन-वर्ग ने इतना अधिक प्रयत्न किया है कि जिससे वह व्यसनसेवी अनेक जातियों में सुसंस्कार डालने में समर्थ हुआ है। यद्यपि बौद्ध आदि दूसरे सम्प्रदाय पूरे बल से इस सुसंस्कार के लिए प्रयत्न करते रहे पर जैनों का प्रयत्न इस दिशा में आज तक जारी है और जहाँ जैनों का प्रभाव ठीक ठीक है वहाँ इस स्वैरविहार के स्वतन्त्र युग में भी मुसलमान और दूसरे मांसभक्षी लोग भी खुल्लमखुल्ला मांस-मद्य का उपयोग करने में संकुचाते हैं। लोकमान्य तिलक ने ठीक ही कहा था कि गुजरात आदि प्रान्तों में जो प्राणि-रक्षा और निर्मांस भोजन का आग्रह है वह जैन-परंपरा का ही प्रभाव है। जैन विचारसरणी का एक मौलिक सिद्धांत यह है कि प्रत्येक वस्तु का विचार अधिकाधिक पहलुओं और अधिकाधिक दृष्टिकोणों से करना और विवादास्पद विषय में बिलकुल अपने विरोधी-पक्ष के अभिप्राय को भी उतनी ही सहानुभूति से समझने का प्रयत्न करना जितनी की सहानुभूति अपने पक्ष की ओर हो। और अन्त में समन्वय पर ही जीवन-व्यवहार का फ़ैसला करना। यों तो यह सिद्धान्त सभी विचारकों के जीवन में एक या दूसरे रूप से काम करता ही रहता है। इसके सिवाय प्रजाजीवन न तो व्यवस्थित बन सकता है और न शान्तिलाभ कर सकता है। पर जैन विचारकों ने उस सिद्धान्त की इतनी अधिक चर्चा की है और उस पर इतना अधिक जोर दिया है कि जिससे कट्टर-से-कट्टर विरोधी सम्प्रदायों को भी कुछ-न-कुछ प्रेरणा मिलती ही रही है। रामानुज का विशिष्टाद्वैत उपनिषद् की भूमिका के ऊपर अनेकान्तवाद ही तो है।

जैन-परंपरा के आदर्श—

जैन-संस्कृति के हृदय को समझने के लिये हमें थोड़े से उन आदर्शों का परिचय करना होगा जो पहिले से आज तक जैन-परम्परा में एक से मान्य हैं और पूजे जाते हैं। सबसे पुराना आदर्श जैन-परम्परा के सामने ऋषभदेव और उनके परिवार का है। ऋषभदेव ने अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग उन जबावदेहियों को बुद्धिपूर्वक अदा करने में बिताया जो प्रजापालन की जिम्मेवारी के साथ उन पर आ पड़ी थीं। उन्होंने उस समय के बिल्कुल अपढ़ लोगों को लिखना पढ़ना सिखाया, कुछ काम-धन्धा न जानने वाले बनचरों को उन्होंने खेती-बाड़ी तथा बढ़ई, कुम्हार आदि के जीवनोपयोगी धन्धे सिखाए, आपस में कैसे बरतना, कैसे समाज नियमों का पालन करना यह भी सिखाया। जब उनको महसूस हुआ कि अब बड़ा पुत्र भरत प्रजाशासन की सब जबावदेहियों को निवाह लेगा तब उसे राज्य-भार सौंपकर गहरे आध्यात्मिक प्रश्नों की छानवीन के लिये उत्कट तपस्वी होकर घर से निकल पड़े।

ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की थीं। उस जमाने में भाई-बहन के बीच शादी की प्रथा प्रचलित थी। सुन्दरी ने इस प्रथा का विरोध करके अपनी सौम्य तपस्या से भाई भरत पर ऐसा प्रभाव डाला कि जिससे भरत ने न केवल सुंदरी के साथ विवाह करने का विचार ही छोड़ा बल्कि वह उसका भक्त बन गया। ऋग्वेद के यमीसूक्त में भाई यम ने भगिनी यमी की लग्न-मांग को अस्वीकार किया जब कि भगिनी सुन्दरी ने भाई भरत की लग्न मांग को तपस्या में परिणत कर दिया और फलतः भाई-बहन के लग्न की प्रतिष्ठित प्रथा नाम-शेष हो गई।

ऋषभ के भरत और बाहुबली नामक पुत्रों में राज्य के निमित्त भयानक युद्ध शुरू हुआ। अन्त में द्वन्द युद्ध का फैसला हुआ। भरत का प्रचण्ड प्रहार निष्फल गया। जब बाहुबली की बारी आई और समर्थतर बाहुबली को जान पड़ा कि मेरे मुष्टि-प्रहार से भरत की अवश्य दुर्दशा होगी तब उसने उस भ्रातृविजयाभिमुख क्षण को आत्मविजय में बदल दिया। उसने यह सोचकर कि राज्य के निमित्त लड़ाई में विजय पाने और वैर-प्रतिवैर तथा कुटुम्ब कलह के बीज बोने की अपेक्षा सच्ची विजय अहंकार और तृष्णा-जय में ही है। उसने अपने बाहुबल को क्रोध और अभिमान पर ही जमाया और अवैर से वैर के प्रतिकार का जीवन-दृष्टान्त स्थापित किया। फल यह हुआ कि अन्त में भरत का भी लोभ तथा गर्व खर्व हुआ।

एक समय था जब कि केवल क्षत्रियों में ही नहीं पर सभी वर्गों में मांस खाने की प्रथा थी। नित्य प्रति के भोजन, सामाजिक उत्सव, धार्मिक अनुष्ठान के अवसरों पर पशु-पक्षिओं का वध ऐसा ही प्रचलित और प्रतिष्ठित था जैसा आज नारियलों और फलों का चढ़ना। उस युग में यदुनन्दन नेमिकुमार ने एक अजीब कदम उठाया। उन्होंने अपनी शादी पर भोजन के वास्ते क़तल किए जाने वाले निर्दोष पशु-पक्षियों की आर्त मूक वाणी से सहसा पिघलकर निश्चय किया कि वे ऐसी शादी न करेंगे जिसमें अनावश्यक और निर्दोष पशु-पक्षिओं का वध होता हो। उस गम्भीर निश्चय के साथ वे सबकी सुनी अनसुनी करके बारात से शीघ्र वापिस लौट आये। द्वारका से सीधे गिरनार पर्वत पर जाकर उन्होंने तपस्या की। कौमारवय में राजपुत्री का त्याग और ध्यान तपस्या का मार्ग अपनाकर उन्होंने उस चिर-प्रचलित पशु-पक्षी-वध की प्रथा पर आत्म-दृष्टान्त से इतना सख्त प्रहार किया कि जिससे गुजरात भर में और गुजरात के प्रभाव वाले दूसरे प्रान्तों में भी वह प्रथा नाम-शेष हो गई और जगह-जगह आज तक चली आनेवाली पिंजरापोलों की लोकप्रिय संस्थाओं में परिवर्तित हो गई।

पार्श्वनाथ का जीवन-आदर्श कुछ और ही रहा है। उन्होंने एक बार दुर्वासा जैसे सहजकोपी तापस तथा उनके अनुयाइयों की नाराज़गी का ख़तरा उठा कर भी एक जलते साँप को गीली लकड़ी से बचाने का प्रयत्न किया। फ़ल यह हुआ कि आज भी जैन प्रभाव वाले क्षेत्रों में कोई साँप तक को नहीं मारता।

दीर्घ तपस्वी महावीर ने भी एक बार अपनी अहिंसा-वृत्ति की पूरी साधना का ऐसा ही परिचय दिया। जब जंगल में वे ध्यानस्थ खड़े थे एक प्रचण्ड विषधर ने उन्हें डस लिया, उस समय वे न केवल ध्यान में अचल ही रहे बल्कि उन्होंने मैत्री-भावना का उस विषधर पर प्रयोग किया जिससे वह "अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः" इस योगसूत्र का जीवित उदाहरण बन गया। अनेक प्रसंगों पर यज्ञयागादि धार्मिक कार्यों में होने वाली हिंसा को तो रोकने का भरसक प्रयत्न वे आजन्म करते ही रहे। ऐसे ही आदर्शों से जन-संस्कृति उत्प्राणित होती आई है और अनेक कठिनाइयों के बीच भी उसने अपने आदर्शों के हृदय को किसी न किसी तरह सँभालने का प्रयत्न किया है, जो भारत के धार्मिक, सामाजिक और राजकीय इतिहास में जीवित हैं। जब कभी सुयोग मिला तभी त्यागी तथा राजा, मन्त्री तथा व्यापारी आदि गृहस्थों ने जैन-संस्कृति के अहिंसा, तप और संयम के आदर्शों का अपने ढंग से प्रचार किया।

संस्कृति का उद्देश्य—

संस्कृति मात्र का उद्देश्य है मानवता की भलाई की ओर आगे बढ़ना। यह उद्देश्य तभी वह साध सकती है जब वह अपने जनक और पोषक राष्ट्र की भलाई में योग देने की ओर सदा अग्रसर रहे। किसी भी संस्कृति के बाह्य अङ्ग केवल अभ्युदय के समय ही पनपते हैं और ऐसे ही समय वे आकर्षक लगते हैं। पर संस्कृति के हृदय की बात जुदी है। समय आफ़त का हो या अभ्युदय का, उसकी अनिवार्य आवश्यकता सदा एक सी बनी रहती है। कोइ भी संस्कृति केवल अपने इतिहास और पुरानी यशोगाथोओं के सहारे न जीवित रह सकती है और प्रतिष्ठा पा सकती है जब तक वह भावी-निर्माण में योग न दे। इस दृष्टान्त से भी जैन-संस्कृति पर विचार करना संगत है। हम ऊपर बतला आए हैं कि यह संस्कृति मूलतः प्रवृत्ति, अर्थात् पुनर्जन्म से छुटकारा पाने की दृष्टि से आविर्भूत हुई। इसके आचार-विचार का सारा ढाँचा उसी लक्ष्य के अनुकूल बना है। पर हम यह भी देखते हैं कि आखिर में वह संस्कृति व्यक्ति तक सीमित न रही। उसने एक विशिष्ट समाज का रूप धारण किया।

निवृत्ति और प्रवृत्ति—

समाज कोई भी हो वह एक मात्र निवृत्ति की भूलभुलैयों पर न जीवित रह सकता है और न वास्तविक निवृत्ति ही साध सकता है। यदि किसी तरह निवृत्ति को न मानने वाले और सिर्फ़ प्रवृत्तिचक्र का ही महत्त्व मानने वाले आख़ीर में उस प्रवृत्ति के तूफ़ान और आंधी में ही फंसकर मर सकते हैं तो यह भी उतना ही सच है कि प्रवृत्ति का आश्रय बिना लिये निवृत्ति हवा का क़िला ही बन जाता है। ऐतिहासिक और दार्शनिक सत्य यह है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही मानव-कल्याण के सिक्के के दो पहलू हैं। दोष, ग़लती, बुराई और अकल्याण से तब तक कोई नहीं बच सकता जब तक वह साथ उसकी एवज़ में सद्गुणों की पुष्टि और कल्याणमय प्रवृत्ति में बल न लगावे। कोई भी बीमार केवल अपथ्य और कुपथ्य से निवृत्त होकर जीवित नहीं रह सकता। उसे साथ-ही-साथ पथ्यसेवन करना चाहिये। शरीर से दूषित रक्त को निकाल डालना जीवन के लिये अगर ज़रूरी है तो उतना ही ज़रूरी उसमें नये रुधिर का संचार करना भी है।

निवृत्तिलक्षी प्रवृत्ति—

ऋषभ से लेकर आज तक निवृत्तिगामी कहलाने वाली जैन-संस्कृति भी जो किसी न किसी प्रकार जीवित रही है वह एक मात्र निवृत्ति के बल पर नहीं

किन्तु कल्याणकारी प्रवृत्ति के सहारे पर। यदि प्रवर्तक-धर्मी ब्राह्मणों ने निवृत्ति मार्ग के सुन्दर तत्त्वों को अपनाकर एक व्यापक कल्याणकारी संस्कृति का ऐसा निर्माण किया है जो गीता में उज्जीवित होकर आज नये उपयोगी स्वरूप में गांधी जी के द्वारा पुनः अपना संस्करण कर रही है तो निवृत्तिलक्षी जैन-संस्कृति को भी कल्याणाभिमुख आवश्यक प्रवृत्तिओं का सहारा लेकर ही आज की वदली हुई परिस्थिति में जीना होगा। जैन-संस्कृति में तत्त्वज्ञान और आचार के जो मूल नियम हैं और वह जिन आदर्शों को आज तक पूंजी मानती आई है उनके आधार पर वह प्रवृत्ति का ऐसा मंगलमय योग साध सकती है जो सब के लिये क्षेमंकर हो।

जैन-परंपरा में प्रथम स्थान है त्यागियों का, दूसरा स्थान है गृहस्थों का। त्यागियों को जो पाँच महाव्रत धारण करने की आज्ञा है वह अधिकाधिक सद्गुणों में प्रवृत्ति करने की सद्गुण-पोषक-प्रवृत्ति के लिये वल पैदा करने की प्राथमिक शर्त मात्र है। हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह आदि दोषों से विना वचे सद्गुणों में प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती, और सद्गुणपोषक प्रवृत्ति को विना जीवन में स्थान दिये हिंसा आदि से वचे रहना भी सर्वथा असम्भव है। इस देश में जो लोग दूसरे निवृत्ति-पंथों की तरह जैन पंथ में भी एक मात्र निवृत्ति की ऐकान्तिक साधना की वात करते हैं वे उक्त सत्य भूल जाते हैं। जो व्यक्ति सार्वभौम महाव्रतों को धारण करने की शक्ति नहीं रखता उसके लिये जैन-परंपरा में अणुव्रतों की सृष्टि करके धीरे धीरे निवृत्ति की ओर आगे बढ़ने का मार्ग भी रखा है। ऐसे गृहस्थों के लिये हिंसा आदि दोषों से अंशतः वचने का विधान किया है। उसका मतलव यही है कि गृहस्थ पहले दोषों से वचने का अभ्यास करे। पर साथ ही यह आदेश है कि जिस-जिस दोष को वे दूर करें उस-उस दोष के विरोधी सद्गुणों को जीवन में स्थान देते जाँय। हिंसा को दूर करना हो तो प्रेम और आत्मौपम्य के सद्गुण को जीवन में व्यक्त करना होगा। सत्य विना वोले और सत्य वोलने का वल विना पाये असत्य से निवृत्ति कैसे होगी? परिग्रह और लोभ से वचना हो तो सन्तोष और त्याग जैसी पोषक प्रवृत्तिओं में अपने आप को खपाना ही होगा। इस वात को ध्यान में रखकर जैन-संस्कृति पर यदि आज विचार किया जाय तो आज कल की कसौटी के काल में जैनों के लिये नीचे लिखी वातें फलित होती हैं।

जैन-वर्ग का कर्त्तव्य—

१—देश में निरक्षरता, वहम और आलस्य व्याप्त है। जहाँ देखो वहाँ

फूट ही फूट है। शराब और दूसरी नशीली चीज़ें जड़ पकड़ बैठी हैं। दुष्काल अतिवृष्टि और युद्ध के कारण मानव-जीवन का एक मात्र आधार पशुधन नामशेष हो रहा है। अतएव इस सम्बन्ध में विधायक प्रवृत्तिओं की ओर सारे त्यागी वर्ग का ध्यान जाना चाहिये, जो वर्ग कुटुम्ब के बन्धनों से बरी है, महावीर का आत्मौपम्य का उद्देश्य लेकर घर से अलग हुआ है, और ऋषभदेव तथा नेमिनाथ के आदर्शों को जीवित रखना चाहता है।

२—देश में ग़रीबी और बेकारी की कोई सीमा नहीं है। खेती-बारी और उद्योग-धंधे अपने अस्तित्व के लिए बुद्धि, धन, परिश्रम और साहस की अपेक्षा कर रहे हैं। अतएव गृहस्थों का यह धर्म हो जाता है कि वे संपत्ति का उपयोग तथा विनियोग राष्ट्र के लिए करें। वह गांधीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को अमल में लावें। बुद्धिसंपन्न और साहसिकों का धर्म है कि वे नम्र बनकर ऐसे ही कामों में लग जायँ जो राष्ट्र के लिए विधायक हैं। काँग्रेस का विधायक कार्यक्रम काँग्रेस की ओर से रखा गया है इसलिये वह उपेक्षणीय नहीं है। असल में वह कार्यक्रम जैन-संस्कृति का जीवन्त अंग है। दलितों और अस्पृश्यों को भाई की तरह बिना अपनाए कौन यह कह सकेगा कि मैं जैन हूँ ? खादी और ऐसे दूसरे उद्योग जो अधिक से अधिक अहिंसा के नज़दीक हैं और एक मात्र आत्मौपम्य एवं अपरिग्रह धर्म के पोषक हैं उनको उत्तेजना दिये बिना कौन कह सकेगा कि मैं अहिंसा का उपासक हूँ ? अतएव उपसंहार में इतना ही कहना चाहता हूँ कि जैन लोग, निरर्थक आडम्बरों और शक्ति के अपव्ययकारी प्रसंगों में अपनी संस्कृति सुरक्षित है, यह भ्रम छोड़कर उसके हृदय की रक्षा का प्रयत्न करें, जिसमें हिन्दू और मुसलमानों का ही क्या, सभी क़ौमों का मेल भी निहित है।

संस्कृति का संकेत—

संस्कृति-मात्र का संकेत लोभ और मोह को घटाने व निर्मूल करने का है, न कि प्रवृत्ति को निर्मूल करने का। वही प्रवृत्ति त्याज्य है जो आसक्ति के बिना कभी संभव ही नहीं जैसे कामाचार व वैयक्तिक परिग्रह आदि। जो प्रवृत्तियाँ समाज का धारण, पोषण, विकसन करने वाली हैं वे आसक्तिपूर्वक और आसक्ति के सिवाय भी सम्भव हैं। अतएव संस्कृति आसक्ति के त्यागमात्र का संकेत करती है। जैन-संस्कृति यदि संस्कृति-सामान्य का अपवाद बने तो वह विकृत बनकर अन्त में मिट जा सकती है।

1. World Problems and Jain Ethics—
Dr. Beni Prasad — Six Ans.
2. Lord Mahavira—Dr. Bool Chand, M.A., Ph.D. — Rs. 4/8/
3. गुजरात का जैन धर्म—मुनि श्री जिनविजय जी — बारह आने
4. जैनग्रन्थ और ग्रन्थकार—श्री फतेहचन्द बेलानी — डेढ रुपया
5. JAINISM—The Oldest Living Religion
J. P. Jain, M.A., LL.B. — Rs. 1/8

2. Jainism in Indian History—Dr. Bool Chand — -/4/-
3. विश्व-समस्या और व्रत-विचार—डॉ० बेनीप्रसाद — चार आने
4. Constitution — 4 Ans
5. अहिंसा की साधना —श्री काका कालेलकर — चार आने,
6,18,26. परिचयपत्र और वार्षिक कार्यविवरण — चौदह आने
7. Jainism in Kalingadesa—Dr. Bool Chand — 4 Ans.
8. भगवान् महावीर—श्रीदलसुखभाई मालवणिया — चार आने
9. Mantra Shastra and Jainism—Dr. A. S. Altekar — 4 Ans.
10. जैन-संस्कृति का हृदय—पं० श्री सुखलालजी संघवी — चार आने
11. भ० महावीरका जीवन—पं० श्री सुखलालजी संघवी — " "
12. जैन तत्त्वज्ञान, जैनधर्म और नीतिवाद — " "
पं० श्री सुखलालजी तथा डॉ० राजवलि पाण्डेय
13. आगमयुग का अनेकान्तवाद—श्री दलसुखभाई मालवणिया — आठ आने
14--15. निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय—श्री सुखलालजी संघवी — एक रुपया
16. वस्तुपाल का विद्यामण्डल—प्रो० भोगीलाल सांडेसरा — आठ आने
17. जैन आगम—श्री दलसुखभाई मालवणिया — दस आने
19. गांधीजी और धर्म—श्री सुखलालजी और मालवणिया — दस आने
20. अनेकान्तवाद—पं० श्री सुखलाल जी संघवी — बारह आने
21. जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन
पं० दलसुखभाई मालवणिया — दस आने
22. राजर्षि कुमारपाल—मुनि श्री जिनविजयजी — आठ आने
23 जैनधर्म का प्राण—श्री सुखलालजी संघवी — छः आने
24. हिन्दू, जैन और हरिजन मंदिर प्रवेश—श्री पृथ्वीराज जैन — सात आने
25. Pacifism & Jainism—Pt. Sukhlalji — 8 Ans.
27. जीवन में स्याद्वाद—श्री चन्द्रशंकर शुक्ल — बारह आना

मण्डल की ओर से

१. प्रस्तुत पत्रिका–

'जैनधर्म का हृदय' लिखने के बाद जैनेतरों को जैनधर्म का विशेष परिचय कराने की दृष्टि से प्रस्तुत लेख 'जैनधर्म का प्राण' लिखा गया है। यह लेख श्री रामकृष्ण शताब्दी ग्रन्थ के नवीन संस्करण के लिये संपादकों के आग्रहवश होकर पण्डित जी ने मूल हिन्दी में ही लिखा है। मूल हिन्दी प्रकाशित होने के पहले ही यह लेख श्री उमाशंकर जोशी द्वारा गुजराती में अनूदित होकर उन्हीं के द्वारा संपादित 'संस्कृति' नामक मासिक में तथा 'प्रबुद्ध जैन' में प्रकाशित हो गया है। और अब प्रस्तुत पत्रिका में प्रकाशित किया जा रहा है। साथ ही काशी से भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित होने वाले नूतन मासिक 'ज्ञानोदय' में भी यह प्रकाशित किया जा रहा है।

मान्यवर पण्डित जी ने इस संक्षिप्त लेख में श्रमण और ब्राह्मण विचार धारा का पृथक्करण किया है और पारस्परिक आदान-प्रदान होकर दोनों परंपरा का किस प्रकार समन्वय हुआ है यह अत्यंत स्पष्ट रूप से दिखाया है। तदनन्तर जैनधर्म के प्राण का अर्थात् उसकी आन्तरिक विशेषताओं का निरूपण किया है। जैनधर्म का ऐसा तुलनात्मक, गम्भीर और स्पष्ट किन्तु अतिसंक्षिप्त विवेचन अन्यत्र सुलभ नहीं है। आशा है वाचक इससे लाभ उठावेंगे।

२. कार्यकारिणी की बैठक–

मण्डल की कार्य कारिणी की बैठक ता० १४–८–४९ के रोज दो बजे रखी गई है। उसमें विशेष रूप से मण्डल का जो भवन है उसमें कुछ परिवर्तन करना है उसके विषय में तथा नई छात्रवृत्तियाँ और फेलोशिप कायम करने के विषय में विचार होगा।

३. प्राप्ति स्वीकार–जुलाई १९४९ में

२४००) श्री रा० ब० प्रेमचन्द के० कोटावाला ट्रस्ट, बंबई की ओर से कोटावाला फेलोशिप के चतुर्थ वर्ष के लिये।

१००) श्री जयंतिलाल म० चूपेलिया, बंबई

जैनधर्म का प्राण

—पण्डित सुखलालजी संघवी

ब्राह्मण और श्रमण परंपरा—

अभी जैनधर्म नाम से जो आचार-विचार पहचाना जाता है वह भगवान् पार्श्वनाथ के समय में खास कर महावीर के समय में निगंठ धम्म—निर्ग्रन्थ धर्म नाम से भी पहचाना जाता था, परन्तु वह श्रमण धर्म भी कहलाता है । अंतर है तो इतना ही है कि एकमात्र जैन धर्म ही श्रमण धर्म नहीं है, श्रमण धर्म की और भी अनेक शाखायें भूतकाल में थीं और अब भी बौद्ध आदि कुछ शाखायें जीवित हैं। निर्ग्रन्थ धर्म या जैन धर्म में श्रमण धर्म के सामान्य लक्षणों के होते हुए भी आचार-विचार की कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो उसको श्रमण धर्म की अन्य शाखाओं से पृथक् करती है । जैन धर्म के आचार विचार की ऐसी विशेषताओं को जानने के पूर्व अच्छा यह होगा कि हम प्रारंभ में ही श्रमण धर्म की विशेषताको भली भाँति जान लें जो उसे ब्राह्मण धर्म से अलग करती हैं।

भारतीय प्राचीन संस्कृति का पट अनेक व विविध रंगी है, जिसमें अनेक धर्म परंपराओं के रंग मिश्रित हैं। इसमें मुख्यतया ध्यान में आनेवाली दो धर्म परंपरा हैं—(१) ब्राह्मण (२) श्रमण। इन दो परंपराओं के पौर्वापर्य तथा स्थान आदि विवादास्पद प्रश्नों को न उठा कर, केवल ऐसे मुद्दों पर थोड़ी सी चर्चा की जाती है, जो सर्व संमत जैसे हैं तथा जिनसे श्रमण धर्म की मूल भित्ती को पहचानना और उसके द्वारा निर्ग्रन्थ या जैन धर्म को समझना सरल हो जाता है।

वैषम्य और साम्य दृष्टि—

ब्राह्मण और श्रमण परंपराओं के बीच छोटे बड़े अनेक विषयों में मौलिक अंतर है, पर उस अंतर को संक्षेप में कहना हो तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि ब्राह्मण—वैदिक परंपरा वैषम्य पर प्रतिष्ठित है, जब कि श्रमण परंपरा साम्य पर प्रतिष्ठित है। यह वैषम्य और साम्य मुख्यतया तीन बातों में देखा जाता है:- (१) समाजविषयक (२) साध्यविषयक और (३) प्राणी जगत् के प्रति दृष्टि विषयक। समाज विषयक वैषम्य का अर्थ है कि समाज रचनामें तथा धर्माधि-

कार में वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व व मुख्यत्व तथा इतर वर्णों का ब्राह्मण की अपेक्षा कनिष्ठत्व व गौणत्व। ब्राह्मण धर्म का वास्तविक साध्य है अभ्युदय, जो ऐहिक समृद्धि राज्य और पुत्र पशु आदि के नाना विध लाभों में तथा इन्द्रपद, स्वर्गीय सुख आदि नानाविध पारलौकिक फलों के लाभों में समाता है। अभ्युदय का साधन मुख्यतया यज्ञधर्म अर्थात् नानाविध यज्ञ हैं। इस धर्म में पशु पक्षी आदि का बलि अनिवार्य मानी गई है और कहा गया है कि वेदविहित हिंसा धर्म का ही हेतु है। इस विधान में बलि किये जाने वाले निरपराध पशु पक्षी आदि के प्रति स्पष्ट तया आत्मसाम्य के अभाव की अर्थात् आत्मवैषम्य की दृष्टि है। इसके विपरीत उक्त तीनों बातों में श्रमण धर्म का साम्य इस प्रकार है। श्रमण धर्म समाज में किसी भी वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व न मान कर गुण-कर्मकृत ही श्रेष्ठत्व व कनिष्ठत्व मानता है, इसलिए वह समाज रचना तथा धर्माधिकार में जन्मसिद्ध वर्ण भेद का आदर न करके गुण कर्म के आधार पर ही सामाजिक व्यवस्था करता है। अतएव उसकी दृष्टि में सद्‌गुणी शूद्र भी दुर्गुणी ब्राह्मण आदि से श्रेष्ठ है, और धार्मिक क्षेत्र में योग्यता के आधार पर हर एक वर्ण का पुरुष या स्त्री समान रूप से उच्च पद का अधिकारी है। श्रमण धर्म का अंतिम साध्य ब्राह्मण धर्म की तरह अभ्युदय न होकर निःश्रेयस है। निःश्रेयस का अर्थ है कि ऐहिक पारलौकिक नानाविध सब लाभों का त्याग सिद्ध करने वाली ऐसी स्थिति, जिसमें पूर्ण साम्य प्रकट होता है और कोई किसी से कम योग्य या अधिक योग्य रहने नहीं पाता। जीव जगत् के प्रति श्रमण धर्म की दृष्टि पूर्ण आत्म-साम्य की है, जिसमें न केवल पशु-पक्षी आदि या कीट पतंग आदि जन्तु का ही समावेश होता है किन्तु वनस्पति जैसे अति क्षुद्र जीव वर्ग का भी समावेश होता है। इसमें किसी भी देहधारी का किसी भी निमित्त से किया जाने वाला वध आत्मवध जैसा ही माना गया है और वध मात्र को अधर्म का हेतु माना है।

ब्राह्मण परंपरा मूल में 'ब्रह्मन्' के आसपास शुरू और विकसित हुई है, जब कि श्रमण परंपरा 'सम'-साम्य, शम और श्रम के आस पास शुरू एवं विकसित हुई

---

[१] "कर्मफलबाहुल्याच्च पुत्रस्वर्गब्रह्मवर्चसादिलक्षणस्य कर्मफलस्यासंख्येयत्वात् तत्प्रति च पुरुषाणां कामबाहुल्यात् तदर्थः श्रुतेरपि को यत्नः कर्मसूपपद्यते।"— तैत्ति० १–११। शांकरभाष्य (पूना आष्टेकर कं०) पृ० ३५३। यही बात "परिणामतापसंस्कारैः गुणवृत्तिविरोधात्" इत्यादि योगसूत्र तथा उसके भाष्य में कही है। सांख्यतत्त्वकौमुदी में भी है जो मूल कारिका का स्पष्टीकरण मात्र है।

है। ब्रह्मन् के अनेक अर्थों में से प्राचीन दो अर्थ इस जगह ध्यान देने योग्य हैं। (१) स्तुति, प्रार्थना, (२) यज्ञ यागादि कर्म। वैदिक मंत्रों एवं सूक्तों के द्वारा जो नानाविध स्तुतियाँ और प्रार्थनायें की जाती हैं वह ब्रह्मन् कहलाता है। इसी तरह वैदिक मंत्रों के विनियोग वाला यज्ञ यागादि कर्म भी ब्रह्मन् कहलाता है। वैदिक मंत्रों और सूक्तों का पाठ करने वाला पुरोहित वर्ग और यज्ञ यागादि कराने वाला पुरोहित वर्ग ही ब्राह्मण है। वैदिक मंत्रों के द्वारा की जाने वाली स्तुति-प्रार्थना एवं यज्ञ यागादि कर्म की अति प्रतिष्ठा के साथ ही साथ पुरोहित वर्ग का समाज में एवं तत्कालीन धर्म में ऐसा प्राधान्य स्थिर हुआ कि जिससे वह ब्राह्मण वर्ग अपने आपको जन्म से ही श्रेष्ठ मानने लगा और समाज में भी बहुधा वही मान्यता स्थिर हुई जिसके आधार पर वर्णभेद की मान्यता रूढ़ हुई और कहा गया कि समाजपुरुष का मुख ब्राह्मण है और इतर वर्ण अन्य अंग हैं। इसके विपरीत श्रमण धर्म यह मानता मनवाता था कि सभी सामाजिक स्त्री-पुरुष सत्कर्म एवं धर्म पद के समान रूप से अधिकारी हैं। जो प्रयत्नपूर्वक योग्यता लाभ करता है वह वर्ग एवं लिंग भेद के बिना ही गुरुपद का अधिकारी बन सकता है। यह सामाजिक एवं धार्मिक समता की मान्यता जिस तरह ब्राह्मण धर्म की मान्यता से बिलकुल विरुद्ध थी उसी तरह साध्यविषयक दोनों की मान्यता भी परस्पर विरुद्ध रही। श्रमण धर्म ऐहिक या पारलौकिक अभ्युदय को सर्वथा हेय मान कर निःश्रेयस को ही एक मात्र उपादेय मानने की ओर अग्रसर था और इसीलिए वह साध्य की तरह साधनगत साम्य पर भी उतना ही भार देने लगा। निःश्रेयस के साधनों में मुख्य है अहिंसा। किसी भी प्राणी की किसी भी प्रकार से हिंसा न करना यही निःश्रेयस का मुख्य साधन है, जिसमें अन्य सब साधनों का समावेश हो जाता है। यह साधनगत साम्यदृष्टि हिंसा प्रधान यज्ञ यागादि कर्म की दृष्टि से बिलकुल विरुद्ध है। इस तरह ब्राह्मण और श्रमण धर्म का वैषम्य और साम्यमूलक इतना विरोध है कि जिससे दोनों धर्मों के बीच पद पद पर संघर्ष की संभावना है, जो सहस्रों वर्षों के इतिहास में लिपिबद्ध है। यह पुराना विरोध ब्राह्मण काल में भी था और बुद्ध एवं महावीर के समय में तथा इसके बाद भी। इसी चिरंतन विरोध के प्रवाह को महाभाष्यकार पतंजलि ने अपनी वाणी में व्यक्त किया है। वैयाकरण पाणिनि ने सूत्र में शाश्वत विरोध का निर्देश किया है। पतंजलि 'शाश्वत'—जन्मसिद्ध विरोध वाले अहि-नकुल, गोव्याघ्र जैसे द्वन्द्वों के उदाहरण देते हुए साथ साथ ब्राह्मण-श्रमण का भी उदाहरण देते हैं[1]। यह ठीक है कि हजार प्रयत्न

---

१. महाभाष्य २.४.९.

करने पर भी अहि-नकुल या गो-व्याघ्र का विरोध निर्मूल नहीं हो सकता, जब कि प्रयत्न करने पर ब्राह्मण और श्रमण का विरोध निर्मूल हो जाना संभव है और इतिहास में कुछ उदाहरण ऐसे उपलब्ध भी हुए हैं जिनमें ब्राह्मण और श्रमण के बीच किसी भी प्रकार का वैमनस्य या विरोध देखा नहीं जाता। परंतु पतंजलि का ब्राह्मण श्रमण का शाश्वत विरोध विषयक कथन व्यक्तिपरक न होकर वर्गपरक है। कुछ व्यक्तियाँ ऐसी संभव है जो ऐसे विरोध से परे हुई हैं या हो सकती हैं परंतु सारा ब्राह्मण वर्ग या सारा श्रमण वर्ग मौलिक विरोध से परे नहीं है यही पतंजलि का तात्पर्य है। 'शाश्वत' शब्द का अर्थ अविचल न हो कर प्रावाहिक इतना ही अभिप्रेत है। पतंजलि से अनेक शताब्दिओं के बाद होने वाले जैन आचार्य हेमचंद्र ने भी ब्राह्मण-श्रमण उदाहरण देकर पतंजलि के अनुभव की यथार्थता पर मुहर लगाई है[1]। आज इस समाजवादी युग में भी हम यह नहीं कह सकते कि ब्राह्मण और श्रमण वर्ग के बीच विरोध का बीज निर्मूल हुआ है। इस सारे विरोध की जड़ ऊपर सूचित वैषम्य और साम्य की दृष्टि का पूर्व पश्चिम जैसा अन्तर ही है।

परस्पर प्रभाव और समन्वय—

ब्राह्मण और श्रमण परंपरा परस्पर एक दूसरेके प्रभाव से बिलकुल अछूता नहीं है। छोटी मोटी अनेक बातों में एक का प्रभाव दूसरे पर न्यूनाधिक मात्रा में पड़ा हुआ देखा जाता है। उदा० श्रमण धर्म की साम्यदृष्टिमूलक अहिंसा भावना का ब्राह्मण परंपरा पर क्रमशः इतना प्रभाव पड़ा है कि जिससे यज्ञीय हिंसा का समर्थन केवल पुरानी शास्त्रीय चर्चाओं का विषय मात्र रह गया है, व्यवहार में यज्ञीय हिंसा लुप्त सी हो गई है। अहिंसा व "सर्वभूतहिते रतः" सिद्धांत का पूरा आग्रह रखने वाली सांख्य, योग, औपनिषद, अवधूत, सात्वत आदि जिन परंपराओं ने ब्राह्मण परंपरा के प्राणभूत वेद विषयक प्रामाण्य और ब्राह्मण वर्ण के पुरोहित व गुरु पद का आत्यंतिक विरोध नहीं किया वे परंपरायें क्रमशः ब्राह्मण धर्म के सर्वसंग्राहक क्षेत्र में एक या दूसरे रूप में मिल गई हैं। इसके विपरीत जैन बौद्ध आदि जिन परंपराओं ने वैदिक प्रामाण्य और ब्राह्मण वर्ण के गुरु पद के विरुद्ध आत्यंतिक आग्रह रक्खा वे परंपराएँ यद्यपि सदा के लिए ब्राह्मण धर्म से अलग ही रही हैं फिर भी उनके शास्त्र एवं निवृत्ति धर्म पर ब्राह्मण परंपरा की लोकसंग्राहक वृत्ति का एक या दूसरे रूप में प्रभाव अवश्य पड़ा है।

---

१. सिद्धहेम० ३.१.१४१।

श्रमणपरंपरा के प्रवर्तक—

श्रमण धर्म के मूल प्रवर्तक कौन कौन थे, वे कहाँ कहाँ और कब हुए इसका यथार्थ और पूरा इतिहास अद्यावधि अज्ञात है पर हम उपलब्ध साहित्य के आधार से इतना तो निःशंक कह सकते हैं कि नाभिपुत्र ऋषभ तथा आदि विद्वान् कपिल थे साम्य धर्म के पुराने और प्रबल समर्थक थे। यही कारण है कि उनका पूरा इतिहास अंधकार-ग्रस्त होने पर भी पौराणिक परंपराओं से उनका नाम लुप्त नहीं हुआ है। ब्राह्मण-पुराण ग्रंथों में ऋषभ का उल्लेख उग्र तपस्वी के रूप में है सही पर उनकी पूरी प्रतिष्ठा तो केवल जैन परंपरा में ही है, जब कि कपिल का ऋषि रूप से निर्देश जैन कथा साहित्य में है फिर भी उनकी पूर्ण प्रतिष्ठा तो सांख्य परंपरा में तथा सांख्यमूलक पुराण ग्रंथों में ही है। ऋषभ और कपिल आदि द्वारा जिस आत्मौपम्य भावना की और तन्मूलक अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा जमी थी उस भावना और उस धर्म की पोषक अनेक शाखा-प्रशाखायें थीं जिनमें से कोई बाह्य तप पर, तो कोई ध्यान पर, तो कोई मात्र चित्तशुद्धि या असंगता पर अधिक भार देती थी, पर साम्य या समता सबका समान ध्येय था।

जिस शाखा ने साम्यसिद्धि मूलक अहिंसा को सिद्ध करने के लिए अपरिग्रह पर अधिक भार दिया और उसी में से अगार–गृह–ग्रंथ या परिग्रहबंधन के त्याग पर अधिक भार दिया और कहा कि जब तक परिवार एवं परिग्रह का बंधन हो तब तक कभी पूर्ण अहिंसा या पूर्ण साम्य सिद्ध हो नहीं सकता, श्रमण धर्म की वही शाखा निर्ग्रन्थ नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके प्रधान प्रवर्तक नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ ही जान पड़ते हैं।

वीतरागता का आग्रह—

अहिंसा की भावना के साथ साथ तप और त्याग की भावना अनिवार्य रूप से निर्ग्रन्थ धर्म में ग्रथित तो हो ही गई थी परंतु साधकों के मन में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि बाह्य तप और बाह्य त्याग पर अधिक भार देने से क्या आत्मशुद्धि या साम्य पूर्णतया सिद्ध होना संभव है ? इसी के उत्तर में से यह विचार फलित हुआ कि राग द्वेष आदि मलिन वृत्तियों पर विजय पाना ही मुख्य साध्य है। इस साध्य की सिद्धि जिस अहिंसा, जिस तप या जिस त्याग से न हो सके वह अहिंसा, तप या त्याग कैसा ही क्यों न हो पर आध्यात्मिक दृष्टि से अनुपयोगी है। इसी विचार के प्रवर्तक 'जिन' कहलाने लगे। ऐसे जिन अनेक हुए हैं। सच्चक, बुद्ध, गोशालक और महावीर ये सब अपनी-अपनी परम्परा में जिन रूप से प्रसिद्ध रहे हैं

परंतु आज जिनकथित जैन धर्म कहने से मुख्यतया महावीर के धर्म का ही बोध होता है जो राग द्वेष के विजय पर ही मुख्यतया भार देता है। धर्म विकास का इतिहास कहता है कि उत्तरोत्तर उदय में आने वाली नयी नयी धर्म की अवस्थाओं में उस उस धर्म की पुरानी अविरोधी अवस्थाओं का समावेश अवश्य रहता है। यही कारण है कि जैन धर्म निर्ग्रन्थ धर्म भी है और श्रमण धर्म भी है।

श्रमण धर्म की साम्यदृष्टि--

अब हमें देखना यह है कि श्रमण धर्म की प्राणभूत साम्य भावना का जैन परंपरा में क्या स्थान है ? जैन श्रुत रूप से प्रसिद्ध द्वादशांगी या चतुर्दश पूर्व में 'सामाइय'--'सामायिक' का स्थान प्रथम है, जो आचारांग सूत्र कहलाता है। जैनधर्म के अंतिम तीर्थंकर महावीर के आचार विचार का सीधा और स्पष्ट प्रतिबिम्ब मुख्यतया उसी सूत्र में देखने को मिलता है। इसमें जो कुछ कहा गया है उस सब में साम्य, समता या सम पर ही पूर्णतया भार दिया गया है।' 'सामाइय' इस प्राकृत या मागधी शब्द का संबंध साम्य, समता या सम से है। साम्य-दृष्टिमूलक और साम्य दृष्टि पोषक जो जो आचार विचार हों वे सब सामाइय -सामायिक रूप से जैन परंपरा में स्थान पाते हैं। जैसे ब्राह्मण परंपरा में संध्या एक आवश्यक कर्म है वैसे ही जैन परंपरा में भी गृहस्थ और त्यागी सब के लिए छः आवश्यक कर्म बतलाये हैं जिनमें मुख्य सामाइय है। अगर सामाइय न हो तो और कोई आवश्यक सार्थक नहीं है। गृहस्थ या त्यागी अपने अपने अधिकारानुसार जब जब धार्मिक जीवन को स्वीकार करता है तब तब वह 'करेमि भंते! सामाइयं' ऐसी प्रतिज्ञा करता है। इसका अर्थ है कि हे भगवन्! मैं समता या समभाव को स्वीकार करता हूँ। इस समता का विशेष स्पष्टीकरण आगे के दूसरे ही पद में किया गया है। उसमें कहा है कि मैं सावद्ययोग अर्थात् पाप व्यापार का यथाशक्ति त्याग करता हूँ। 'सामाइय' की ऐसी प्रतिष्ठा होने के कारण सातवीं सदी के सुप्रसिद्ध विद्वान् जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने उस पर विशेषावश्यकभाष्य नामक अति विस्तृत ग्रंथ लिख कर बतलाया है कि धर्म के अंगभूत श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र ये तीनों ही सामाइय हैं।

सच्ची वीरता के विषय में जैनधर्म, गीता और गांधीजी--

सांख्य, योग और भागवत जैसी अन्य परंपराओं में पूर्व काल से साम्यदृष्टि की जो प्रतिष्ठा थी उसीका आधार लेकर भगवद्गीताकार ने गीता की रचना की है। यही कारण है कि हम गीता में स्थान स्थान पर समदर्शी, साम्य, समता जैसे शब्दों के द्वारा साम्यदृष्टि का ही समर्थन पाते हैं। गीता और

आचारांग की साम्य भावना मूल में एक ही है, फिर भी वह परंपरा भेद से अन्यान्य भावनाओं के साथ मिलकर भिन्न हो गई है। अर्जुन को साम्य भावना के प्रबल आवेग के समय भी भैक्ष्य जीवन स्वीकार करने से गीता रोकती है और शस्त्रयुद्ध का आदेश करती है, जब कि आचारांग सूत्र अर्जुन को ऐसा आदेश न कर के यही कहेगा कि अगर तुम सचमुच क्षत्रिय वीर हो तो साम्यदृष्टि आने पर हिंसक शस्त्रयुद्ध नहीं कर सकते बल्कि भैक्ष्यजीवनपूर्वक आध्यात्मिक शत्रु के साथ युद्ध के द्वारा ही सच्चा क्षत्रियत्व सिद्ध कर सकते हो। इस कथन की द्योतक भरत-बाहुबली की कथा जैन साहित्य में प्रसिद्ध है, जिसमें कहा गया है कि सहोदर भरत के द्वारा उग्र प्रहार पाने के बाद बाहुबली ने जब प्रतिकार के लिए हाथ उठाया तभी समभाव की वृत्ति प्रकट हुई। उस वृत्ति के आवेग में बाहुबली ने भैक्ष्य जीवन स्वीकार किया पर प्रतिप्रहार करके न तो भरत का बदला चुकाया और न उससे अपना न्यायोचित राज्यभाग लेने का सोचा। गांधीजी ने गीता और आचारांग आदि में प्रतिपादित साम्य भाव को अपने जीवन में यथार्थ रूप से विकसित किया और उसके बल पर कहा कि मानव संहारक युद्ध तो छोड़ो, पर साम्य या चित्तशुद्धि के बल पर ही अन्याय के प्रतिकार का मार्ग भी ग्रहण करो। पुराने संन्यास या त्यागी जीवन का ऐसा अर्थ विकास गांधीजीने समाज में प्रतिष्ठित किया है।

साम्यदृष्टि और अनेकान्तवाद—

जैन परंपरा का साम्य दृष्टि पर इतना अधिक भार है कि उसने साम्य दृष्टि को ही ब्राह्मण परंपरा में लब्धप्रतिष्ठ ब्रह्म कहकर साम्यदृष्टिपोषक सारे आचार विचार को 'ब्रह्मचर्य'-'बम्भचेराई' कहा है,[1] जैसा कि बौद्ध परंपर ने मैत्री आदि भावनाओं को ब्रह्मविहार कहा है। इतना ही नहीं पर धम्मपद[2] और शांति पर्व की तरह जैन ग्रंथ[3] में भी समत्व धारण करनेवाले श्रमण को ही ब्राह्मण कहकेर श्रमण और ब्राह्मण के बीच का अंतर मिटाने का प्रयत्न किया है।

साम्यदृष्टि जैन परंपरा में मुख्यया दो प्रकार से व्यक्त हुई हैं—(१) आचार में (२) विचार में। जैन धर्म का बाह्य-आभ्यन्तर, स्थूल-सूक्ष्म सब आचार साम्य दृष्टि मूलक अहिंसा के केन्द्र के आस पास ही निर्मित हुआ है। जिस आचार के द्वारा अहिंसा की रक्षा और पुष्टि न होती हो ऐसे किसी भी आचार

---

१. आचारांग १-५-३।
२. ब्राह्मण वर्ग. २६।
३. उत्तराध्ययन. २५।

को जैन परंपरा मान्य नहीं रखती। यद्यपि सब धार्मिक परंपराओं ने अहिंसा तत्त्व पर न्यूनाधिक भार दिया है पर जैन परंपरा ने उस तत्त्व पर जितना भार दिया है और उसे जितना व्यापक बनाया है उतना भार और उतनी व्यापकता अन्य धर्म परंपरा में देखी नहीं जाती। मनुष्य, पशु पक्षी कीट पतंग और वनस्पति ही नहीं बल्कि पार्थिव जलीय आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जन्तुओं तक की हिंसा से आत्मौपम्य की भावना द्वारा निवृत्त होने के लिए कहा गया है।

विचार में साम्य दृष्टि की भावनापर जो भार दिया गया है उसी में से अनेकान्त दृष्टि या विभज्यवाद का जन्म हुआ है। केवल अपनी दृष्टि या विचार सरणी को ही पूर्ण अन्तिम सत्य मान कर उस पर आग्रह रखना यह साम्य दृष्टि के लिए घातक है। इसलिए कहा गया है कि दूसरों की दृष्टि का भी उतना ही आदर करना जितना अपनी दृष्टि का। यही साम्य दृष्टि अनेकान्तवाद की भूमिका है। इस भूमिका में से ही भाषाप्रधान स्याद्वाद और विचारप्रधान नयवाद का क्रमशः विकास हुआ है। यह नहीं है कि अन्यान्य परंपराओं में अनेकान्त दृष्टि का स्थान ही न हो। मीमांसक और कापिल दर्शन के उपरांत न्याय दर्शन में भी अनकांतवाद का स्थान है। बुद्ध भगवान् का विभज्यवाद और मध्यममार्ग भी अनेकान्त दृष्टि के ही फल हैं, फिर भी जैन परंपरा ने जैसे अहिंसा पर अत्यधिक भार दिया है वैसे ही उसने अनेकान्त दृष्टि पर भी अत्यधिक भार दिया है। इसलिए जैन परंपरा में आचार या विचार का कोई भी विषय ऐसा नहीं है जिस पर अनेकान्त दृष्टि लागू न की गई हो या जो अनेकान्त दृष्टि की मर्यादा से बाहर हो। यही कारण है कि अन्यान्य परंपराओं के विद्वानों ने अनेकांत दृष्टि को मानते हुए भी उस पर स्वतंत्र साहित्य रचा नहीं है, जब कि जैन परंपरा के विद्वानों ने उसके अंगभूत स्याद्वाद नयवाद आदि के बोधक और समर्थक विपुल स्वतंत्र साहित्य का निर्माण किया है।

अहिंसा—

हिंसा से निवृत्त होना ही अहिंसा है। यह विचार तब तक पूरा समझ में आ नहीं सकता जब तक यह न बतलाया जाय कि हिंसा किस की होती है और हिंसा कौन और किस कारण से करता है और उसका परिणाम क्या है। इसी प्रश्न को स्पष्ट समझाने की दृष्टि से मुख्यतया चार विद्यायें जैन परंपरामें फलित हुई हैं—(१) आत्मविद्या (२) कर्मविद्या (३) चारित्रविद्या और (४) लोकविद्या। इसी तरह अनेकांत दृष्टि के द्वारा मुख्यतया श्रुतविद्या और प्रमाण विद्या का निर्माण व पोषण हुआ है। इस प्रकार अहिंसा, अनेकांत और तन्मूलक विद्यायें ही जैन धर्म का प्राण है जिस पर आगे संक्षेप में विचार किया जाता है।

आत्मविद्या और उत्क्रान्तिवाद—

प्रत्येक आत्मा चाहे वह पृथ्वीगत, जलगत या वनस्पतिगत हो या कीट पतंग पशु पक्षी रूप हो या मानव रूप हो वह सब तात्त्विक दृष्टि से समान है। यही जैन आत्मविद्या का सार है। समानता के इस सैद्धान्तिक विचार को अमल में लाना—उसे यथासंभव जीवन व्यवहारके प्रत्येक क्षेत्र में उतारने का अप्रमत्त भाव से प्रयत्न करना यही अहिंसा है। आत्मविद्या कहती है कि यदि जीवन-व्यवहार में साम्य का अनुभव न हो तो आत्म साम्य का सिद्धान्त कोरा वाद मात्र है। समानता के सिद्धान्त को अमली बनाने के लिए ही आचारांग सूत्र के अध्ययन में कहा गया है कि जैसे तुम अपने दुःख का अनुभव करते हो वैसा ही पर दुःख का अनुभव करो। अर्थात् अन्य के दुःख का आत्मीय दुःख रूप से संवेदन न हो तो अहिंसा सिद्ध होना संभव नहीं।

जैसे आत्म समानता के तात्त्विक विचार में से अहिंसा के आचार का समर्थन किया गया है वैसे ही उसी विचार में से जैन परंपरा में यह भी आध्यात्मिक मंतव्य फलित हुआ है कि जीवगत शारीरिक मानसिक आदि वैषम्य कितना ही क्यों न हो पर आगंतुक है—कर्ममूलक है, वास्तविक नहीं है। अतएव क्षुद्र से क्षुद्र अवस्था में पड़ा हुआ जीव भी कभी मानवकोटि में आ सकता है और मानव-कोटिगत जीव भी क्षुद्रतम वनस्पति अवस्था में जा सकता है, इतना ही नहीं बल्कि वनस्पति जीव विकास के द्वारा मनुष्य की तरह कभी सर्वथा बंधनमुक्त हो सकता है। ऊँचनीच गति या योनि का एवं सर्वथा मुक्तिका आधार एक मात्र कर्म है। जैसा कर्म, जैसा संस्कार या जैसी वासना वैसी ही आत्मा की अवस्था, पर तात्त्विक रूप से सब आत्माओं का स्वरूप सर्वथा एक-सा है जो नैष्कर्म्य अवस्था में पूर्ण रूप से प्रकट होता है। यही आत्मसाम्यमूलक उत्क्रान्तिवाद है।

सांख्य, योग, बौद्ध आदि द्वैतवादी अहिंसा समर्थक परम्पराओं का और और बातों में जैन परंपरा के साथ जो कुछ मतभेद हो पर अहिंसाप्रधान आचार तथा उत्क्रान्तिवाद के विषय में सबका पूर्ण ऐकमत्य है। आत्माद्वैतवादी औपनिषद परंपरा अहिंसा का समर्थन समानता के सिद्धान्त पर नहीं पर अद्वैत के सिद्धान्त पर करती है। वह कहती है कि तत्त्व रूप से जैसे तुम वैसे ही अन्य सभी जीव शुद्ध ब्रह्म—एक ब्रह्मरूप हैं। जो जीवों का पारस्परिक भेद देखा जाता है वह वास्तविक न होकर अविद्यामूलक है। इसलिए अन्य जीवों को अपने से अभिन्न ही समझना चाहिये और अन्य के दुःख को अपना दुःख समझ कर हिंसा से निवृत्त होना चाहिये।

द्वैतवादी जैन आदि परंपराओं के और अद्वैतवादी परंपरा के बीच अंतर केवल इतना ही है कि पहली परंपराएँ प्रत्येक जीवात्माका वास्तविक भेद मान कर भी उन सब में तात्त्विक रूप से समानता स्वीकार करके अहिंसा का उद्बोधन करती हैं, जब कि अद्वैत परंपरा जीवात्माओं के पारस्परिक भेद को ही मिथ्या मान कर उनमें तात्त्विक रूप से पूर्ण अभेद मान कर उसके आधार पर अहिंसा का उद्बोधन करती है। अद्वैत परंपरा के अनुसार भिन्न भिन्न योनि और भिन्न भिन्न गतिवाले जीवों में दिखाई देने वाले भेद का मूल अधिष्ठान एक शुद्ध अखंड ब्रह्म है जब कि जैन जैसी द्वैतवादी परंपराओं के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा तत्त्व रूप से स्वतंत्र और शुद्ध ब्रह्म है। एक परंपरा के अनुसार अखंड एक ब्रह्म में से नानाजीव की सृष्टि हुई है जब कि दूसरी परंपराओं के अनुसार जुदेजुदे स्वतंत्र और समान अनेक शुद्ध ब्रह्म ही अनेक जीव हैं। द्वैतमूलक समानता के सिद्धान्त में से ही अद्वैत-मूलक ऐक्य का सिद्धान्त क्रमशः विकसित हुआ जान पड़ता है परंतु अहिंसा का आचार और आध्यात्मिक उत्क्रान्तिवाद अद्वैतवाद में भी द्वैतवाद के विचार के अनुसार ही घटाया गया है। वाद कोई भी हो पर अहिंसा की दृष्टि से महत्त्व की बात एक ही है कि अन्य जीवों के साथ समानता या अभेद का वास्तविक संवेदन होना ही अहिंसा की भावना का उद्गम है।

कर्मविद्या और बंध-मोक्ष—

जब तत्त्वतः सब जीवात्मा समान हैं तो फिर उनमें परस्पर वैषम्य क्यों, तथा एक ही जीवात्मा में कालभेद से वैषम्य क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में से ही कर्म-विद्या का जन्म हुआ है। जैसा कर्म वैसी अवस्था यह जैन मान्यता वैषम्य का स्पष्टीकरण तो कर देती है, पर साथ ही साथ यह भी कहती है कि अच्छा या बुरा कर्म करने एवं न करने में जीव ही स्वतंत्र है, जैसा वह चाहे वैसा सत् या असत् पुरुषार्थ कर सकता है और वही अपने वर्तमान और भावी का निर्माता है। कर्मवाद कहता है कि वर्तमान का निर्माण भूत के आधार पर और भविष्य का निर्माण वर्तमान के आधार पर होता है। तीनों काल की पारस्परिक संगति कर्मवाद पर ही अवलंबित है। यही पुनर्जन्म के विचार का आधार है।

वस्तुतः अज्ञान और रागद्वेष ही कर्म हैं। अपने पराये की वास्तविक प्रतीति न होना अज्ञान या जैन परंपरा के अनुसार दर्शन मोह है। इसी को सांख्य बौद्ध आदि अन्य परंपराओं में अविद्या कहा है। अज्ञान-जनित इष्टानिष्ट की कल्पनाओं के कारण जो जो वृत्तियां, या जो जो विकार पैदा होते हैं वही संक्षेप में राग द्वेष

कहे गये हैं। यद्यपि राग द्वेष ही हिंसा के प्रेरक हैं पर वस्तुतः सब की जड़ अज्ञान--दर्शन मोह या अविद्या ही है, इसलिए हिंसा की असली जड़ अज्ञान ही है। इस विषय में आत्मवादी सब परम्पराएँ एकमत हैं।

ऊपर जो कर्म का स्वरूप बतलाया है वह जैन परिभाषा में भाव कर्म है और वह आत्मगत संस्कार विशेष है। यह भावकर्म आत्मा के इर्दगिर्द सदा वर्तमान ऐसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भौतिक परमाणुओं को आकृष्ट करता है और उसे विशिष्ट रूप र्पित करता है। विशिष्ट रूप प्राप्त यह भौतिक परमाणु पुंज ही द्रव्यकर्म या कार्मण शरीर कहलाता है जो जन्मान्तर में जीव के साथ जाता है और स्थूल शरीर के निर्माण की भूमिका बनता है। ऊपर ऊपर से देखने पर मालूम होता है कि द्रव्यकर्म का विचार जैन परंपरा की कर्मविद्या में है, पर अन्य परंपरा की कर्मविद्या में वह नहीं है, परन्तु सूक्ष्मता से देखने वाला जान सकता है कि वस्तुतः ऐसा नहीं है। सांख्य-योग, वेदान्त आदि परंपराओं में जन्मजन्मान्तर गामी सूक्ष्म या लिंग शरीर का वर्णन है। यह शरीर अन्तःकरण, अभिमान मन आदि प्राकृत या मायिक तत्त्वों का बना हुआ माना गया है जो वास्तव में जैन परंपरासंमत भौतिक कार्मण शरीर के ही स्थान में है। सूक्ष्म या कार्मण शरीर की मूल कल्पना एक ही है। अन्तर है तो उसके वर्णन प्रकार में और न्यूनाधिक विस्तार में एवं वर्गीकरण में, जो हजारों वर्ष से जुदा जुदा विचार-चिंतन करने वाली परंपराओं में होना स्वाभाविक है। इस तरह हम देखते हैं तो आत्मवादी सब परंपराओं में पुनर्जन्म के कारणरूप से कर्मतत्व का स्वीकार है और जन्मजन्मान्तरगामी भौतिक शरीररूप द्रव्यकर्म का भी स्वीकार है। न्याय वैशेषिक परंपरा जिसमें ऐसे सूक्ष्म शरीर का कोई खास स्वीकार नहीं है उसने भी जन्मजन्मान्तरगामी अणुरूप मन को स्वीकार करके द्रव्य कर्म के विचार को अपनाया है।

पुनर्जन्म और कर्म की मान्यता के बाद जब मोक्ष की कल्पना भी तत्त्वचिंतन में स्थिर हुई तब से अभी तक की बंध मोक्षवादी भारतीय तत्त्वचिंतकों की आत्मस्वरूप-विषयक मान्यताएँ कैसी कैसी हैं और उनमें विकासक्रम की दृष्टि से जैन मन्तव्य के स्वरूप का क्या स्थान है, इसे समझने के लिये संक्षेप में बंधमोक्षवादी मुख्य मुख्य सभी परंपराओं के मंतव्यों को नीचे दिया जाता है। (१) जैन परंपरा के अनुसार आत्मा प्रत्येक शरीर में जुदा जुदा है। वह स्वयं शुभाशुभ कर्म का कर्ता और कर्म के फल--सुखदुःख आदि का भोक्ता है। वह जन्मान्तर के समय स्थानान्तर को जाता है और स्थूल देह के अनुसार संकोच विस्तार धारण करता है। यही मुक्ति पाता है और मुक्तिकाल में सांसारिक सुख-दुःख ज्ञान-अज्ञान आदि शुभाशुभ कर्म आदि भावों से सर्वथा छूट जाता है। (२) सांख्य योग परंपरा के अनुसार

आत्मा भिन्न भिन्न है पर वह कूटस्थ एवं व्यापक होने से न कर्म का कर्ता, भोक्ता, जन्मान्तरगामी, गतिशील है और न तो मुक्तिगामी ही है। उस परंपरा के अनुसार तो प्राकृत बुद्धि या अन्तःकरण ही कर्म का कर्ता, भोक्ता, जन्मान्तरगामी, संकोच-विस्तारशील, ज्ञान-अज्ञान आदि भावों का आश्रय और मुक्ति काल में उन भावों से रहित है। सांख्य योग परंपरा अन्तःकरण के बंधमोक्ष को ही उपचार से पुरुष मान लेती है। (३) न्यायवैशेषिक परंपरा के अनुसार आत्मा अनेक है, वह सांख्य योग की तरह कूटस्थ और व्यापक माना गया है फिर भी वह जैन परंपरा की तरह वास्तविक रूप से कर्ता, भोक्ता, बद्ध और मुक्त भी माना गया है। (४) अद्वैत-वादी वेदान्त के अनुसार आत्मा वास्तव में नाना नहीं पर एक ही है। वह सांख्य योग की तरह कूटस्थ और व्यापक है अतएव न तो वास्तव में बद्ध है और न मुक्त। उसमें अन्तःकरण का बंधमोक्ष ही उपचार से माना गया है। (५) बौद्धमत के अनुसार आत्मा या चित्त नाना है; वही कर्ता, भोक्ता, बंध और निर्वाण का आश्रय है। वह न तो कूटस्थ है, न व्यापक; वह केवल ज्ञान क्षण परंपरा रूप है जो हृदय इन्द्रिय जैसे अनेक केन्द्रों में एक साथ या क्रमशः निमित्तानुसार उत्पन्न व नष्ट होता रहता है।

ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से यह स्पष्टतया सूचित होता है कि जैन परंपरा संमत आत्मस्वरूप बंधमोक्ष के तत्त्वचिंतकों की कल्पना का अनुभवमूलक पुराना रूप है। सांख्ययोग संमत आत्मस्वरूप उन तत्त्वचिंतकों की कल्पना की दूसरी भूमिका है। अद्वैतवाद संमत आत्मस्वरूप सांख्ययोग की बहुत्वविषयक कल्पना का एक स्वरूप में परिमार्जनमात्र है, जबकि न्यायवैशेषिक संमत आत्मस्वरूप जैन और सांख्ययोग की कल्पना का मिश्रणमात्र है। बौद्धसंमत आत्मस्वरूप जैन कल्पना का ही तर्कशोधित रूप है।

एकत्वरूप चारित्रविद्या—

आत्मा और कर्म के स्वरूप को जानने के बाद ही यह जाना जा सकता है कि आध्यात्मिक उत्क्रान्ति में चारित्र का क्या स्थान है। मोक्षतत्त्वचिंतकों के अनुसार चारित्र का उद्देश आत्मा को कर्म से मुक्त करना ही है। चारित्र के द्वारा कर्म से मुक्ति मान लेने पर भी यह प्रश्न रहता ही है कि स्वभाव से शुद्ध ऐसे आत्मा के साथ पहले पहल कर्म का संबंध कब और क्यों हुआ या ऐसा संबंध किसने किया? इसी तरह यह भी प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वभाव से शुद्ध ऐसे आत्मतत्त्व के साथ यदि किसी न किसी तरह से कर्म का संबंध हुआ मान लिया जाय तो चारित्र के द्वारा मुक्ति सिद्ध होने के बाद भी फिर कर्म संबंध क्यों नहीं होगा? इन दो प्रश्नों

का उत्तर आध्यात्मिक सभी चिंतकों ने लगभग एक सा ही दिया है। सांख्य-योग हो या वेदान्त, न्यायवैशेषिक हो या बौद्ध इन सभी दर्शनों की तरह जैन दर्शन का भी यही मंतव्य है कि कर्म और आत्मा का संबंध अनादि है क्योंकि उस संबंध का आदिक्षण सर्वथा ज्ञानसीमा के बाहर है। सभी ने यह माना है कि आत्मा के साथ कर्म–अविद्या या माया का संबंध प्रवाह रूप से अनादि है फिर भी व्यक्ति-रूप से वह संबंध सादि है क्योंकि हम सबका ऐसा अनुभव है कि अज्ञान और राग-द्वेष से ही कर्मवासना की उत्पत्ति जीवन में होती रहती है। सर्वथा कर्म छूट जाने पर जो आत्मा का पूर्ण शुद्ध रूप प्रकट होता है उसमें पुनः कर्म या वासना उत्पन्न क्यों नहीं होती इसका खुलासा तर्कवादी आध्यात्मिक चिंतकों ने यों किया है कि आत्मा स्वभावतः शुद्धि-पक्षपाती है। शुद्धि के द्वारा चेतना आदि स्वाभाविक गुणों का पूर्ण विकास होने के बाद अज्ञान या रागद्वेष जैसे दोष जड़ से ही उच्छिन्न हो जाते हैं अर्थात् वे प्रयत्नपूर्वक शुद्धि को प्राप्त ऐसे आत्मतत्व में अपना स्थान पाने के लिए सर्वथा निर्बल हो जाते हैं।

चारित्र का कार्य जीवनगत वैषम्य के कारणों को दूर करना है, जो जैन परि-भाषा में 'संवर' कहलाता है। वैषम्य के मूल कारण अज्ञान का निवारण आत्मा की सम्यक् प्रतीति से होता है और रागद्वेष जैसे क्लेशों का निवारण माध्यस्थ्य की सिद्धि से। इसलिए आन्तर चारित्र में दो ही बातें आती हैं। (१) आत्म-ज्ञान–विवेक-ख्याति (२) माध्यस्थ्य या रागद्वेष आदि क्लेशों का जय। ध्यान, व्रत, नियम, तप, आदि जो जो उपाय आन्तर चारित्र के पोषक होते हैं वे ही बाह्य चारित्र रूप से साधक के लिए उपादेय माने गये हैं।

आध्यात्मिक जीवन की उत्क्रान्ति आन्तर चारित्र के विकासक्रम पर अवलंबित है। इस विकासक्रम का गुणस्थान रूप से जैन परंपरा में अत्यंत विशद और विस्तृत वर्णन है। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति क्रम के जिज्ञासुओं के लिए योगशास्त्रप्रसिद्ध मधुमती आदि भूमिकाओं का बौद्धशास्त्रप्रसिद्ध सोतापन्न आदि भूमिकाओं का, योगवासिष्ठप्रसिद्ध अज्ञान और ज्ञान भूमिकाओं का, आजीवक-परंपरा प्रसिद्ध मंद-भूमि आदि भूमिकाओं का और जैन परंपरा प्रसिद्ध गुणस्थानों का तथा योगदृष्टियों का तुलनात्मक अध्ययन बहुत रसप्रद एवं उपयोगी है, जिसका वर्णन यहाँ संभव नहीं। जिज्ञासु अन्यत्र प्रसिद्ध [1] लेखों से जान सकता है।

मैं यहाँ उन चौदह गुणस्थानों का वर्णन न करके संक्षेप में तीन भूमिकाओं का ही परिचय दिये देता हूँ, जिनमें गुणस्थानों का समावेश हो जाता है। पहिली भूमिका

१. "भारतीय दर्शनोमां आध्यात्मिक विकासक्रम–पुरातत्त्व १- पृ० १४९।

हैं बहिरात्म, जिसमें आत्मज्ञान या विवेकख्याति का उदय ही नहीं होता। दूसरी भूमिका अन्तरात्म है जिसमें आत्मज्ञान का उदय तो होता है पर रागद्वेष आदि क्लेश मंद होकर भी अपना प्रभाव दिखलाते रहते हैं। तीसरी भूमिका है परमात्म। इसमें रागद्वेष का पूर्ण उच्छेद होकर वीतरागत्व प्रकट होता है।

लोकविद्या—

लोकविद्या में लोक के स्वरूप का वर्णन है। जीव—चेतन और अजीव—अचेतन या जड़ इन दो तत्त्वों का सहचार ही लोक है। चेतन-अचेतन दोनों तत्त्व न तो किसी के द्वारा कभी पैदा हुए हैं और न कभी नाश पाते हैं फिर भी स्वभाव से परिणामान्तर पाते रहते हैं। संसार काल में चेतन के ऊपर अधिक प्रभाव डालने वाला द्रव्य एकमात्र जड़-परमाणुपुंज-पुद्गल है, जो नानारूप से चेतन के संबंध में आता है और उसकी शक्तियों को मर्यादित भी करता है। चेतन तत्त्व की साहजिक और मौलिक शक्तियाँ ऐसी हैं जो योग्य दिशा पाकर कभी न कभी उन जड़ द्रव्यों के प्रभाव से उसे मुक्त भी कर देती हैं। जड़ और चेतन के पारस्परिक प्रभाव का क्षेत्र ही लोक है और उस प्रभाव से छुटकारा पाना ही लोकान्त है। जैन परंपरा की लोकक्षेत्र-विषयक कल्पना सांख्ययोग, पुराण और बौद्ध आदि परंपराओं की कल्पना से अनेक अंशों में मिलती जुलती है।

जैन परंपरा न्यायवैशेषिक की तरह परमाणुवादी है, सांख्ययोग की तरह प्रकृतिवादी नहीं है तथापि जैन परंपरा संमत परमाणु का स्वरूप सांख्यपरंपरासंमत प्रकृति के स्वरूप के साथ जैसा मिलता है वैसा न्यायवैशेषिकसंमत परमाणु स्वरूप के साथ नहीं मिलता, क्योंकि जैन संमत परमाणु सांख्यसंमत प्रकृति की तरह परिणामी है, न्यायवैशेषिक संमत परमाणु की तरह कूटस्थ नहीं है। इसीलिए जैसे एक ही सांख्यसंमत प्रकृति पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि अनेक भौतिक सृष्टियों का उपादान बनती है वैसे ही जैनसंमत एक ही परमाणु पृथ्वी, जल, तेज आदि नानारूप में परिणत होता है। जैन परंपरा न्यायवैशेषिक की तरह यह नहीं मानती कि पार्थिव, जलीय आदि भौतिक परमाणु मूल में ही सदा भिन्न जातीय हैं। इसके सिवाय और भी एक अन्तर ध्यान देने योग्य है। वह यह कि जैनसंमत परमाणु वैशेषिक संमत परमाणु की अपेक्षा इतना अधिक सूक्ष्म है कि अंत में वह सांख्यसंमत प्रकृति जैसा ही अव्यक्त बन जाता है। जैन परंपरा का अनंत परमाणु-वाद प्राचीन सांख्यसंमत पुरुष बहुत्वानुरूप प्रकृतिबहुत्ववाद से दूर नहीं है।

---

१. षड्दर्शनसमुच्चय-गुणरत्नटीका-पृ०-९९। "मौलिकसांख्या हि आत्मानमात्मानं प्रति पृथक् प्रधानं वदन्ति। उत्तरे तु सांख्याः सर्वात्मस्वपि एकं नित्यं प्रधानमिति प्रपन्नाः।"

जैनमत और ईश्वर

जैन परंपरा सांख्ययोग मीमांसक आदि परंपराओं की तरह लोक को प्रवाह रूपसे अनादि और अनंत ही मानती है । वह पौराणिक या वैशेषिक मत की तरह उसका सृष्टिसंहर नहीं मानती । अतएव जैन परंपरा में कर्ता संहर्ता रूपसे ईश्वर जैसी स्वतंत्र व्यक्ति का कोई स्थान ही नहीं है । जैन सिद्धान्त कहता है कि प्रत्येक जीव अपनी अपनी सृष्टि का आप ही कर्ता है । उसके अनुसार तात्त्विक दृष्टि से प्रत्येक जीव में ईश्वरभाव है जो मुक्ति के समय प्रकट होता है । जिसका ईश्वरभाव प्रकट हुआ है वही साधारण लोगों के लिए उपास्य बनता है । योगशास्त्रसंमत ईश्वर भी मात्र उपास्य है, कर्ता संहर्ता नहीं, पर जैन और योगशास्त्र की कल्पना में अंतर है । वह यह कि योगशास्त्रसंमत ईश्वर सदा मुक्त होने के कारण अन्य पुरुषों से भिन्न कोटि का है; जबकि जैनशास्त्र संमत ईश्वर वैसा नहीं है । जैनशास्त्र कहता है कि प्रयत्नसाध्य होने के कारण हर कोई योग्य साधक ईश्वरत्व लाभ करता है और सभी मुक्त समानभाव से ईश्वररूप से उपास्य हैं ।

श्रुतविद्या और प्रमाणविद्या–

पुराने और अपने समय तक में ज्ञात ऐसे अन्य विचारकों के विचारोंका तथा अपने स्वानुभवमूलक अपने विचारों का सत्यलक्षी संग्रह ही श्रुतविद्या है । श्रुतविद्या का ध्येय यह है कि सत्यस्पर्शी किसी भी विचार या विचारसरणी की अवगणना या उपेक्षा न हो । इसी कारण से जैन परंपरा की श्रुतविद्या नव नव विद्याओं के विकास के साथ विकसित होती रही है । यही कारण है कि श्रुतविद्या में संग्रह नयरूप से जहाँ प्रथम सांख्यसंमत सदद्वैत लिया गया वहीं ब्रह्माद्वैत के विचारविकास के बाद संग्रहनय रूप से ब्रह्माद्वैत विचार ने भी स्थान प्राप्त किया है । इसी तरह जहाँ ऋजुसूत्र नयरूप से प्राचीन बौद्ध क्षणिकवाद संग्रहीत हुआ है वहीं आगे के महायानी विकास के बाद ऋजुसूत्र नयरूप से वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद और शून्यवाद इन चारों प्रसिद्ध बौद्ध शाखाओं का संग्रह हुआ है ।

अनेकान्त दृष्टि का कार्यप्रदेश इतना अधिक व्यापक है कि इसमें मानव जीवन की हितावह ऐसी सभी लौकिक लोकोत्तर विद्यायें अपना अपना योग्य स्थान प्राप्त कर लेती हैं । यही कारण है कि जैन श्रुतविद्या में लोकोत्तर विद्याओं के अलावा लौकिक विद्याओं ने भी स्थान प्राप्त किया है ।

प्रमाणविद्या में प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि ज्ञान के सब प्रकारों का, उनके साधनों का तथा उनके बलाबल का विस्तृत विवरण आता है। इसमें भी अनेकान्त दृष्टि का ऐसा उपयोग किया गया है कि जिससे किसी भी तत्त्वचिंतक के यथार्थ विचार की अवगणना या उपेक्षा नहीं होती, प्रत्युत ज्ञान और उसके साधन से संबंध रखने वाले सभी ज्ञान विचारों का यथावत् विनियोग किया गया है।

यहाँ तक का वर्णन जैन परंपरा के प्राणभूत अहिंसा और अनेकान्त से संबंध रखता है। जैसे शरीर के बिना प्राण की स्थिति असंभव है वैसे ही धर्मशरीर के सिवाय धर्मप्राण की स्थिति भी असंभव है। जैन परंपरा का धर्मशरीर भी संघ-रचना, साहित्य, तीर्थ, मन्दिर आदि धर्मस्थान, शिल्पस्थापत्य, उपासनाविधि, ग्रंथसंग्राहक भांडार आदि अनेक रूप विद्यमान है। यद्यपि भारतीय संस्कृति विरासत के अविकल अध्ययन की दृष्टि से जैनधर्म के ऊपर सूचित अंगों का तात्त्विक एवं ऐतिहासिक वर्णन आवश्यक एवं रसप्रद भी है तथापि वह प्रस्तुत निबंध की मर्यादा के बाहर है। अत एव जिज्ञासुओं को अन्य साधनों के द्वारा अपनी जिज्ञासा को तृप्त करना चाहिये।

LORD MAHAVIRA

डा० बूलचन्द्रजी द्वारा लिखित Lord 'Mahavira' प्रकाशित हो गया। उसकी कीमत ४-८-० रखी गई है। मंडल के सभी-प्रकार के सदस्यों को विना मूल्य भेज दी गई है। उसके विषय में जो अभिप्राय प्राप्त हुए हैं उनमें से कुछ ये हैं—

"Cordial thanks for your valuable monograph from which I hope many thoughtful readers will collect information about the great man, his ideas, and his ideals.

PROF. WALTHER SCHUBRING,
Hamburg University.

"I have not yet found any book of a similar compass being both so full and so pleasant reading."

JULES BLOCH
Professor of Sanskrit,
College de France, Paris

"I have read your book with absorbing interest. It is a very lucid exposition of the tenets of Jainism."

H. VON GLASENAPP,
Prof. of Indian History & Philosophy,
Tubingen University.